शरद देवड़ाकी
प्रतिनिधि रचनाएँ

पत्थरका लैम्प-पोस्ट

भा र ती य ज्ञा न पी ठ, का शी

■ ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला हिन्दी ग्रन्थाङ्क–१२५

सम्पादक और नियामक

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण

१९६०

मूल्य : तीन रुपये

प्रकाशक

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल,

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

बारह गद्य-रचनाएँ

बारह राजस्थानी विरह-चित्र

बारह कविताएँ

अपने पाठकोंसे

समूची पुस्तकमें केवल भूमिका ही वह स्थल होता है जहाँ खड़ा होकर एक लेखक अपने पाठकोंसे सीधे-सीधे अपने मनकी बात कह सकता है,—कल्पित पात्रों या घटनाओंके सहारेकी जरूरत नहीं होती। मुझे भी अपने सम्बन्धमें अपने पाठकोंसे चन्द बातें कहनी हैं :

पहली बात : मेरा अब तकका लेखन-काल कुल चार-पाँच वर्षका ही है। इस अवधिमें भी, [अन्य कार्योंकी भी व्यस्तताओंके कारण] मैं केवल लेखनमें ही अपना सम्पूर्ण ध्यान और समय नहीं लगा सका हूँ। शायद इसीलिए मात्रामें मेरी लेखन-पूंजी अपेक्षाकृत कम है। बहरहाल, मैंने अब तक जो भी कुछ लिखा है, उसमेंका श्रेष्ठतम [अपनी समझके अनुसार] चुनकर आपके हाथोंमें दे रहा हूँ।

दूसरी बात : किसी भी अन्य कविकी तरह मैंने भी अपने लेखनका प्रारम्भ गीतोंसे ही किया था। हो सकता है, संग्रहमें विविधता-वृद्धिकी दृष्टिसे और मेरे कविके विकासको समझनेकी दृष्टिसे उन गीतोंका भी इस संग्रहमें दिया जाना उपयोगी होता, लेकिन अपना श्रेष्ठतम [!] चुनकर देनेवाली मेरी भावनाने ही शायद मुझे अन्ततः उन्हें न देनेका निर्णय लेनेके लिए मजबूर किया है।

- तीसरी बात : इस संग्रहमें आप विभिन्न विधाओंकी रचनाएँ पायेंगे [जिसके कि आप साधारणतः अभ्यस्त नहीं रहे हैं]। इसके पीछे स्वयंको आपके सम्मुख एक 'सर्वतोमुखी प्रतिभा' वाले 'जीनियस' के रूपमें पेश करनेकी प्रवृत्ति नहीं है, दरअसल यह मेरी मजबूरी है—या कहूँ, आवश्यकता है। मैं अभी तक उस स्थितिमें हूं जब लेखक अपनी अभिव्यक्तिके लिए सही [यानी सर्वोत्तम] माध्यमकी खोज-में होता है। इन विभिन्न रास्तोंमें भटकता हुआ जहाँ मैं एक बार अपने 'सही' रास्तेपर पहुँच गया, उसके बाद मैं उसी रास्तेपर एकाग्रतासे आगे बढ़ते रहनेकी कोशिश करूँगा। अपने उस सही रास्ते तक पहुँचनेमें, मुझे विश्वास है, मेरे पाठकोंसे भी मुझे सहायता मिलेगी।
- अपने पाठकोंसे, अपने मनकी बस यही तीन बातें मुझे कहनी हैं। इससे इतर, अगर कुछ और कहना हो भी, तो उसके लिए बेचारी भूमिकाको शिकार बनाना मैं उचित नहीं समझता।

विजयादशमी
३० सितम्बर, '६०

१२६६७३

कहानियाँ

मास्टरनी बाई

सेठ दीनानाथने सोफ़ेपर बैठे-ही-बैठे फिर एक बार सामने दीवारमें लगे क़द्दे-आदम शीशेमें ग़ौरसे देखा। तीन बार रगड़कर दाढ़ी बनानेसे मोटे थुलथुल गालोंकी चमड़ी जगह-जगह छिल गयी थी, चिकनी तो हो ही गयी थी, उनपर भी मुलायमियतसे ऊपर-नीचे दो बार हाथ फेरा। फिर भारी गलेसे आवाज़ लगायी······"मंगतिया····ए····मंगतिया !"

आज सेठजीको सुबह इतनी जल्दी नीचे आया देखकर बेचारा मंगू जल्दी-जल्दी झाड़-पोंछ रहा था। घबराकर भागा आया।

"आजका अखबार ला····" बिना उसकी ओर देखनेका कष्ट किये ही सेठ दीनानाथने आदेश किया।

अख़बार वे हाथमें ज़रूर पकड़े रहे, पर अक्षर उन्होंने एक भी नहीं पढ़ा। आँखें थीं कि पल-पलपर हॉलके गोल दरवाजेसे बाहरके लॉनपर होती हुई गेट तक दौड़ी जाती थीं।

टन्की आवाज़ सुनकर उन्होंने गर्दन घुमाकर देखा····साढ़े सात ! अस्फुट स्वरमें बुदबुदाये······"आज क्या बात है ! अभी तक नहीं आई···· या मेरे आनेके पहले ही ऊपर चली गई !"

अब गेटके बजाय रह-रहकर उनकी चुँधियाईसी व्यग्र आँखें पास ही दाहिनी ओरवाली सीढ़ियोंकी ओर उठने लगीं।

पौने आठ ! कुछ बेताबीसे उन्होंने चारों ओर देखा। झुँझलाकर मंगूको पुकारनेवाले ही थे कि एकदम रुक गये, आवाज़ मुँहमें ही रह गई।

"खट-पट, खट-पट····" काठकी सीढ़ियोंपर कोई नीचे आ रहा था। एक बार जल्दीसे उन्होंने सामनेवाले आईनेमें देखा, ऊपरी होंठसे होती हुई मुँहमें आनेवाली मूँछके दो बालोंको ठीक किया, और आँखें अख़बारमें गड़ा दीं। खट-पटकी आवाज़ तेज़ होती जा रही थी। उनके दिलकी

धड़कन बढ़ गई। चाहनेपर भी उनकी आँखें सीढ़ीकी ओर उठ नहीं पा रही थीं।

आवाज़ और पास आ गई। साहसकर उन्होंने चेहरा दाहिनी ओर घुमाया, पलकें उठाईं, फिर झुँझलाहट और क्रोधसे अख़बार उन्होंने सामने-वाली छोटी गोल मेज़पर पटक दिया। यह आया थी।

एक बार इच्छा हुई, इसे ही पूछ लें। किन्तु संकोचने उनका मुँह बन्द कर दिया। आया उनके पाससे होती हुई बाहर निकल गई।

उन्होंने फिर अख़बारमें दिल लगानेकी कोशिश की। बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिखा था—"प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूका रूसमें अभूतपूर्व स्वागत"; उसके बादवाली पंक्ति वे नहीं पढ़ सके। अक्षर काले धब्बोंमें बदल गये, धब्बे नाचने लगे, फिर मिट गये और उनके स्थानपर उभर आया एक गोरा मुख....

बात परसोंकी है। वे दुबके पड़े थे। कई बार इच्छा हुई, उठें पर बाहरकी ठंडका खयाल कर रजाईसे मुँह उघाड़नेका साहस नहीं हो रहा था।

अचानक 'खट-खट' शब्द सुनाई दिया था। यों ही जिज्ञासावश उन्होंने मुँह उघाड़ा। उनके पायतानेकी खिड़कीके ठीक नीचेसे होती हुई सीढ़ियाँ ऊपर चली गई थीं। उसी खिड़कीके सामनेसे उन्हें एक चेहरा गुज़रता दिखाई दिया, ख़ाली चेहरा—शरीरका बाक़ी हिस्सा दीवालकी ओटमें था, और चेहरेकी भी केवल एक झलक मात्र—गोरे भरे-भरे गाल, आँखें बड़ी-बड़ी, काले बाल, बस इतना ही। बड़ा प्यारा-प्यारा लगा वह मुखड़ा! किन्तु दूसरे पल उनकी आँखोंके सामने केवल खिड़कीकी छड़ें थीं। काफ़ी देर तक वे उसीके बारेमें सोचते रहे।

यह नई मास्टरनी थी।

····फिर कल एक नई बात हुई थी। रोज़ साढ़े आठ बजे उठनेवाले सेठ दीनानाथ कल सातसे कुछ पहले ही नीचे आ बैठे। हाथोंमें अखबार और आँखें गेटकी ओर। इधर घड़ीने सात बजाये और उधर गेटपर टिकी उनकी आँखें चमक उठीं। हल्के नीले रंगकी साड़ी और वैसा ही ब्लाउज पहने 'वही' चली आ रही थी। कम्पाउण्डमें फैली जाड़ेकी उजली धूपमें कुंदन-सा दमकता मुख बड़ा भला लग रहा था। वह सधे क़दमोंसे बिना इधर-उधर देखे सीधी चली आ रही थी।

सेठ दीनानाथने झट अपनी आँखें अखबारमें गड़ा दीं। उनके दिलकी धड़कन सहसा बढ़ गई थी।

वह पोर्टिकोमें आई। उसकी चप्पलकी आवाज़ उन्हें साफ़ सुनाई दे रही थी, किन्तु उन्हें आँखें उठानेका साहस नहीं हो रहा था। हॉलके गोल दरवाजेमें दाखिल होते समय उसने दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते की, किन्तु सेठ दीनानाथने देखा नहीं, उनकी आँखें अखबारमें गड़ी थीं।

'खट-खट'की आवाज़ें सुनकर उन्होंने आँखें सीढ़ीकी ओर उठाई थीं: बँधा हुआ जूड़ा, नीला ब्लाउज और नीली साड़ीसे होती हुई उनकी दृष्टि नीचे जाकर एड़ियोंके पास अटक गई। सीढ़ियाँ चढ़ते समय साड़ीका एड़ीके पासवाला हिस्सा कुछ उँचा उठ जाता, और दिख जाती पिण्डलियोंकी दूधिया चिकनाई, मानो नीली झीलमें श्वेत कमल खिला हो, या खिल-खिलाता हो नीले नभमें शरद्-पूर्णिमाका चन्द्र! आखिरी सीढ़ी तक वे एकटक देखते रहे। उसके बाद भी कुछ देर तक खाली सीढ़ीकी ओर ही मन्त्र-मुग्धसे ताकते रहे थे।

ठीक डेढ़ घण्टे बाद सबसे ऊपरी सीढ़ीपर वह फिर दिखाई पड़ी थी।

किन्तु डेढ़ घण्टेके इस समयमें सेठ दीनानाथकी हालत काफ़ी पतली रही। अखबार पढ़नेकी उन्होंने कई बार चेष्टा की, किन्तु काले अक्षर रह-रह कर दूध-सी श्वेत पिण्डलियोंमें बदल जाते। टेलीफोनपर दलालसे आयरनका भाव तेज़ सुनकर भी उन्होंने बिना जवाब दिये ही रिसीवर रख

दिया। मुनीमजीको डाँटकर वापस कर दिया। आँखें बार-बार सीढ़ीकी ओर उठानेसे मोटी गर्दन दुखने लगी।

आखिर सबसे ऊपरी सीढ़ीपर साड़ीका निचला छोर दिखाई पड़ा था।

फुर्तीसे उन्होंने आँखें अखबार पर गड़ा दीं। पैरोंकी आवाज़ सबसे निचली सीढ़ीपर आ गई, पर वे इसी असमंजसमें रहे कि देखें या नहीं। आखिर साहसकर उन्होंने उधर देखा। दो नन्हें और गोरे हाथ जुड़े, दो स्निग्ध आँखोंकी तरल दृष्टि उनकी ओर उठी और मृदु स्वरमें सुनाई पड़ा, 'नमस्ते।'

सेठ दीनानाथने भी हड़बड़ाकर दोनों हाथ जोड़े—दैनिक 'सन्मार्ग' बीचमें दबनेसे चरचरा उठा। साथ ही उन्होंने कुछ उठनेका उपक्रम भी किया, किन्तु हाथ तो जुड़े हुए थे, अतः थुलथुल शरीरका भारी बोझ बिना हाथोंका सहारा पाये आधा उठकर ही रह गया। आख़िर बैठे ही बैठे उन्होंने सामनेवाले सोफ़ेकी ओर इशारा किया और भारी फटी-सी आवाज़में बोले, "बैठो, मास्टरनीजी।"

कुछ देर खड़ी वह दाहिने हाथकी उँगलियोंके पोरोंसे सोफ़ेके हत्थेको यों ही दबाती रही। किन्तु सेठ दीनानाथने उसके असमंजसकी ओर ध्यान नहीं दिया, न बैठनेकी ही प्रतीक्षा की। पूछा, "छोरा पढ़ा तो ठीकसे ना? बदमासी तो नहीं की?"

उसने अपनी झुकी हुई पलकें उठाईं—सेठ दीनानाथ कुछ आगे झुके हुए उसीकी ओर एकटक ताक रहे थे। उनके गालोंके मोटे-मोटे मांसके लोथड़े बोलते समय ऊपर-नीचे हिल रहे थे। नीचेसे थुलथुल गालोंका दबाव और ऊपरसे भैंसके चमड़े-सी मोटी पलकोंके बीचमें बेचारी आँखें मुँद-सी गई थीं, केवल एक काली रेखा-मात्र रह गई थी। आती हँसीको उसने बरबस रोका, फिर सोफ़ेपर बैठ गई। नीची दृष्टि किये पैरोंके लाल नाखूनोंकी ओर देखते हुए वह कुछ बोलनेका उपक्रम कर ही रही थी

कि फिर वही फटी-सी आवाज़ सुनाई पड़ी, "देखो जी, म्हें तो शिक्षाको बहोत धियान रखते हैं। शिक्षा ही तो आदमीको गहणो है, ना मास्टरनी बाई ?"

मिस नीरा मलहोत्राको कोई जवाब सूझ नहीं रहा था, "जी हाँ—जी...."

दोनों जाँघोंपर रखी हुई कोहनियोंके सहारे कुछ और आगे झुकते हुए उन्होंने अपेक्षाकृत धीमी आवाज़में पूछा, "आपने मुनीमजी कितनों महिनों बोल्या है ?"

मिस मलहोत्राके मुँहसे निकल पड़ा, "साठ रुपये।"

"बस ! खाली साठो ! अच्छा, आप धियानसे पढ़ाओ। हम आपने सौ रुपिया महीनों देस्याँ। शिक्षा तो अमोल है, ना मास्टरनीजी ?"

वह कृतज्ञता-सूचक धन्यवाद देने ही जा रही थी कि सेठ दीनानाथने अपना भारी मांसल दाहिना हाथ आगे बढ़ाया, उसकी साड़ीके पैरोंके पास झूलते छोरको अपने अँगूठे और तर्जनीके बीचमें पकड़कर हल्केसे रगड़ते हुए परखा और बोले, "इसी साड़ियाँ तो म्हारी दूकानमें भी बहोत हैं।"

अचानक उसे लगा कि उसकी नीली साड़ीपर थूकके छींटे आ गिरे हैं। उसने आँखें उठाकर देखा....सेठ दीनानाथका लटका हुआ निचला होंठ थूकसे गीला हो रहा था, लगता था कि लार अभी टपक पड़ेगी। मूँछके कुछ बाल होंठोंके थूकसे चिपक गये थे, कुछ मुँहमें दाँतोंके नीचे कचकचा रहे थे। चुँधियाई आँखोंमें कैसी-कुछ लपट थी।....मिस नीरा का जी मितला उठा। साड़ीका छोर उसने छुड़ा लिया, और इच्छा हुई एकदम खड़ी हो जाय।

तभी एक खरखराती, कर्कश फटी-सी आवाज़ सुनाई दी, "अरे मंगतिया ! बनारसियाके बापूजीने पूछ तो पूजा करने क्यूँ नी जावे ? साढ़े आठ बजगा ऊपरसे !"

चौंककर दोनोंने सीढ़ियोंकी ओर देखा। सबसे ऊपरवाली सीढ़ीपर

मोटे-मोटे दो पैर दिखाई दे रहे थे। सेठजीकी मिची-मिची आँखोंमें अचानक भय झाँक उठा। घबराकर वे जल्दीसे उठने लगे, किन्तु भारी शरीर आधा उठकर ही फिर गिर पड़ा। आख़िर दोनों हथेलियाँ सोफ़ेपर रख, उनपर शरीरका बोझ डालकर वे उठ सके। जल्दीसे खड़ाऊँमें पैर डाला, खुली हुई लाँगको एक हाथसे पीछे खोंसते हुए बुदबुदाकर बोले, "अच्छा, आप पढ़ान रोज़ आइयो।" फिर एक अन्तिम भयभीत दृष्टि सीढ़ीके उन भारी पैरोंकी ओर डालकर खड़ाऊँकी खटाक-खटाक आवाज़ करते वे भीतर ठाकुरबाडीकी ओर जल्दी-जल्दी चले गये।

मिस नीराने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। वह खड़ी हो गई। सीढ़ियोंपर वे मोटे पैर अब भी दिखाई दे रहे थे। वह हॉलसे निकलकर बरामदेसे होती हुई पोर्टिकोमें आई। कैसा अजीब है यह सेठ भी! कैसे ताक रहा था! वह कलसे नहीं आयेगी। पर बिना ट्यूशन किये····

अचानक सुनाई दिया, 'मिस नीरा!' वह ठिठक गई। बायीं ओर घास के लॉन पर धूपमें एक कुर्सी रखी थी। उसपर बैठा था एक युवक, काश्मीरी दुशाला ओढ़े हुए। हाथमें एक किताब····'मदभरे नयना।' वह उठकर नीराके पास आया। बोला, "देखिये, रामू-श्यामू ध्यानसे न पढ़ें, शरारत करें, तो मुझे बता देना, मैं ठीक कर दूँगा। और यदि कोई किताब-उताब चाहिए, तो भी मुझे बता देना, मैं ला दूँगा, हाँ।"

और उसने फिसलते हुए दुशालेको ठीक किया, पर उसकी आँखें बराबर नीराके धूपसे दमकते गोरे मुखपर गड़ी रहीं। नीराका दम घुट-सा रहा था। बिना कुछ जवाब दिये वह आगे बढ़ गई। जैसा बाप, वैसा बेटा! नहीं, वह नहीं आयेगी कलसे। चाहे उसका छोटा भाई आगे पढ़ सके या नहीं····चाहे उसकी बीमार माँका इलाज हो सके या नहीं····नहीं, वह कलसे बिलकुल नहीं आयेगी।

वह गेटके पास पहुँच चुकी थी कि सुना, 'मास्टरनी जी!' उसने दायें-बायें देखा। दाहिनी ओरके कमरेमें मुनीमजी बैठे थे। सामने खुले

हुए बही-खाते, कानमें क़लम, नाकपर चश्मा—वे हाथके इशारेसे उसे बुला रहे थे। खीझ और झुँझलाहटसे उसका मन भर उठा। चबूतरेकी सीढ़ियाँ चढ़कर वह चौखटपर खड़ी हो गई और वहींसे रूखी आवाज़में पूछा, "क्या है ?"

नाकपर नीचेकी ओर खिसक आये चश्मेको अधेड़ मुनीमजीने ठीक किया। कानसे क़लम हाथमें ले ली। बोले, "आइए, रजिस्टरमें दस्तखत कर दीजिए।" नीराने देखा, आँखोंमें वही तृष्णा ! वही लिजलिजी वासना !!

"कल कर दूँगी।" और बिना पलटकर देखे वह एक ही फलांगमें दोनों सीढ़ियाँ लाँघकर गेटकी ओर बढ़ी।

"भैणजी, कित्तना टाइम हुआ है ?" पूछकर नौजवान सिक्ख दरबानने अपनी घनी मूँछोंपर हाथ फेरते हुए नोकपर एक मरोड़ दिया, फिर मुस्कुरा दिया।

नीराने हाथकी रिस्टवाचपर एक नज़र डाली और नौजवान दरबानकी मुस्कुराती कुटिल आँखोंकी ओर देखे बिना धीरे-से 'पौने नौ' बोली और बाहर निकल गई।

छज्जेपर सेठाणीजी खड़ी थीं। मुँहपर पड़ा लम्बा घूँघट दाहिने हाथसे ऊँचा उठाये उन्होंने सब कुछ देखा, सब कुछ सुना। उनके मुँहसे संक्षिप्त-सा निकला था केवल एक 'हूँ !'····

····घड़ीकी लगातार टन्न-टन्न सुनकर सेठ दीनानाथकी तन्द्रा टूटी। ग़ुस्सेसे अख़बार पटक दिया। नौ बज गये ! वे मंगूको पुकारनेवाले ही थे कि सीढ़ीपर रामू-श्यामूकी उँगलियाँ पकड़े आया दिखाई पड़ी। वह सीढ़ीपरसे ही बोली, "बहूजी पूछती हैं, आज पूजा नहीं करनी है क्या ?"

सेठ दीनानाथने शायद प्रश्न सुना ही नहीं। अपनी ही झोंकमें पूछा, "आज ये पढ़े नहीं ?"

"नहीं।"

"क्यूँ ?"

"मास्टरनीजी नहीं आईं।"

"क्यूँ नहीं आईं ?" सेठ दीनानाथकी आवाज़में उत्तेजना बढ़ती ही जा रही थी।

"बहूजीने मना कर दिया।" आया सीढ़ी उतरती हुई बोल रही थी।

सेठ दीनानाथ आवेशमें खड़े हो गये, "बिना मुझे पूछे मना कर दियो ! क्यूँ कर दियो मना ? कुण है वा मना करण वाली ?"

तभी भारी पैरोंकी धमकसे काठकी सीढ़ियाँ चरचरा उठीं। मुखपर लम्बा घूंघट निकाले, भारी थुल-थुल हाथको नचातीं, सेठाणीजी जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर रही थीं। सेठ दीनानाथके सामने आकर वे तनकर खड़ी हो गईं। दाहिना हाथ एक बार हवामें ऊपर-नीचे हिलाती हुई कर्कश आवाज़में बोलीं, "एऽऽऽ मैं कर दियो मना, मैंऽऽऽ।"

आवेशके कारण उनका लम्बा घूंघट काँप रहा था, आवाज़ निकल नहीं पा रही थी। सेठ दीनानाथकी तेज़ी तत्क्षण कपूर-सी उड़ गई। वे सहमे-से पल भर खड़े रहे, फिर धम्मसे सोफ़ेपर बैठ गये—सोफ़ेकी स्प्रिंग-दार सीट उनके बोझसे एक बार नीचे फ़र्श तक दब गई।

लॉनकी धूपमें कुर्सीपर बैठे हुए बनारसी बाबूने भी सहमकर अपनी आँखें हाथकी किताब, 'मद भरे नयना' में गड़ा दीं।

चबूतरेसे उचकते मुनीमजी दुबककर गद्दीमें जा घुसे।

गेटके तख्तपर बैठा नौजवान सिक्ख दरबान मुस्कुराहट मूँछोंमें ही दबाकर बाहर सड़ककी ओर देखने लगा।

दूसरे दिनसे बच्चोंको पढ़ानेके लिए पुरानी अधेड़ मास्टरनी ही फिर आने लगी।

खिड़की और चौखट

•

आठ महीने बाद उस दिन अचानक सामनेवाली खिड़की खुली दिखाई दी। मेरी मुट्ठियाँ अनजाने अपनी खिड़कीकी छड़ोंपर कस गई और हैरत-से पलक झपझपाकर मैंने देखा—हाँ, सचमुच खुली ही थी।

दूसरे कोनेकी टेबिलपर मेरा साथी बदस्तूर झुका हुआ था। उसके सिरके पास लटकती तेज़ बत्तीके इर्द-गिर्द एक कीड़ा चक्कर काट रहा था। पंखेकी अनवरत घर्र-घर्रके सिवा कमरेमें पूर्ण खामोशी थी।

निगाहें फिर उसी खिड़कीकी ओर घुमाईं। अरे, इस बार वहाँ कोई बैठी थी! मुझे उसके शरीरका केवल बायाँ हिस्सा, और वह भी सिर्फ़ कमरके ऊपरका ही, दिखाई दे रहा था। लापरवाहीसे गोल की हुई बेणी, कानमें एक छोटा-सा गोल यन्त्र जिसका दूसरा चपटा हिस्सा बालोंपर चिपका हुआ, आँखोंके सामने उड़-उड़ आतीं कुछ रूखी लटें, सुडौल नासिका, गेहुएँ रंगका भरा-भरा गाल, और छोटी-सी ठुड्डी। बस, इतना ही कुछ देख सका मैं।

नीचे सुपरिण्टेण्डेण्टके कमरेमें घड़ीने दस बजाये। मैंने झाँका। गलियारेमें नंगे बदन बैठा दरवान कोई भजन गुनगुनाता हुआ सूत कात रहा था। बन्द कमरोंकी खिड़कियोंके काँचोंसे भीतरका प्रकाश छन-छनकर बाहर आ रहा था। कभी-कभी बगलवाले कमरेसे कई कण्ठोंका उन्मुक्त अट्टहास सुनाई दे जाता। इसके सिवा सब ओर मुकम्मल खामोशी थी।

आँखें फिर उसी ओर उठीं। वह सामने लगे पाइप जैसे यन्त्रमें झुक-कर कुछ बोल रही थी। पतले ओंठ हौले-हौले हिल रहे थे। बायें कन्धेपर झूलता हुआ साड़ीका पल्ला कभी हवासे थोड़ा उड़ जाता, कभी सामने 'स्विचबोर्ड' की ओर बायाँ हाथ बढ़ानेसे कुछ हट जाता।

सिहर कर मैंने आँखें हटा लीं।

इमारतके पिछवाड़े पोखरकी सीढ़ियोंपर कोई धुँधली महिला-आकृति पीट-पीटकर कपड़े धो रही थी। उस पार मजदूरोंकी बस्तीके पीछेसे सप्तमी का आधा कटा चाँद ऊँचा उठ रहा था। पोखरके किनारे लैम्प-पोस्टके नीचे अभी आकर खड़ी हुई बसमेंसे उतरकर दो मज़दूर युवक, गलबाँही डाले, ऊँची आवाज़में 'ज़माना ये समझा कि हम पीके आये' गाते, लड़-खड़ाते-से बस्तीकी ओर जा रहे थे।

लेकिन, उसके लिए जैसे इन बदलते दृश्योंका अस्तित्व ही नहीं था। वह उसी तरह व्यस्त थी। उसकी खिड़कीसे प्रकाश निकलकर हमारे चौकमें पड़ रहा था। साथमें उसकी काली परछाई भी। अचानक मैंने ग़ौर किया कि उस खिड़कीके इधर-उधरकी चारों खिड़कियाँ बन्द हैं। और तब सहसा ही आठ महीने पहलेकी घटना मेरी आँखोंके आगे उभर आयी········

मैंने किताब बन्द की। लेट गया।

········हाँ, आठ महीने पहले इस पीली इमारतकी पाँचों खिड़कियाँ हरदम खुली रहतीं और हर खिड़कीके पास बैठी रहती एक 'गर्ल आपरेटर'। इनके कारण होस्टलके लड़कोंका खासा मनोरंजन हो जाता। सुबह ब्रश करते समय झाग भरे मुँहसे रेलिंगके ऊपर झुककर, दोपहर रसोईघरमें कौर चबाते हुए क्यारियोंसे उचक-उचक कर, शामको बैडमिण्टन खेलते समय बार-बार ऊपरकी ओर देखकर, और रातमें पढ़ते या ताश खेलते समय बीच-बीचमें अक्सर इन्हींकी चर्चाएँ चलतीं। कुछ तेज़ लड़के रोमांसके क़िस्से गढ़-गढ़कर, नये भरती होनेवालोंपर रोब गाँठते।

होली आई। एक तो फूहड़ त्यौहार, फिर होस्टलके छात्र, भला पीछे क्यों रहते? बड़ा हुड़दंग मचा। और तभी वह अवांछनीय घटना घटी जिसका सम्बन्ध इन खिड़कियोंसे है।

हुआ ऐसा कि राजेशने उस दिन सुबह भांगकी ठण्डाई ज़्यादा ले ली थी। अब नशा चढ़ाव पर था। उसने एक खिड़कीकी ओर निहायत शायराना अंदाज़से दाहिना हाथ फैलाया और एक सस्ते क़िस्मका शेर कहा।

फिर तो वाहवाही और हू-हूका भूचाल फट पड़ा। 'शायर साहब' कन्धोंपर उठा लिये गये। खींचातानीमें कमीज़ और पायजामा फट गया। शोरगुल, तालियों और ठहाकोंके साथ सारे छात्र उछलते-कूदते रहे।

अचानक पाँचों खिड़कियोंके एक साथ बन्द होनेकी आवाज़ सुनकर बेहूदगीका वह तूफ़ान थमा। दूसरे दिन शिकायत पहुँची। 'एमरजेन्सी जनरल मीटिंग' में सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब द्वारा की गई भर्त्सना और डाँटसे छात्रोंको जितना दुख नहीं हुआ, उससे कई गुना अधिक अफ़सोस यह देखकर हुआ कि उसके बाद वे खिड़कियाँ कभी नहीं खुलीं।

और आज, आठ महीने बाद, अचानक उनमेंसे एक खुल गयी थी।

मैंने गहरा साँस खींचा। उठ बैठा।

........वह शायद थक गई थी। जँभाई ले रही थी। उसका बायाँ हाथ ऊँचा उठा हुआ था और श्वास-प्रश्वासके साथ वक्ष जल्दी-जल्दी उठ गिर रहा था। नीले ब्लाउजके सफ़ेद बटन आगे-पीछे होते हुए दीख रहे थे।

इस बार मैंने सिहरकर आँखें हटाई नहीं, देखता रहा।

चाँद ऊँचा उठ आया था। मज़दूरोंकी बस्तीसे किसी औरतके रोनेकी आवाज़ आ रही थी। दरवानके भजनकी गुनगुनाहट और चरखेकी घर्र-घर्र बन्द हो चुकी थी।

मैंने बत्ती बुझा दी।

× × ×

कालिजसे लौटकर बरामदेमें कुर्सीपर बैठा बालीबालका मैच देख रहा था कि बगलवाले कमरेसे राजेश निकला। चमचमाते बूट और शार्कस्किन-

का सूट। केशोंसे उड़ती 'इवनिंग इन पेरिस'की महक। पास आ, हाथ पकड़, कुर्सीसे उठाते हुए बोला, "चल, चौरंगी घुमा लाऊँ।"

मैंने हाथ छुड़ा लिया और मुहर्रमी आवाज़में कहा, "नहीं यार, मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

"तू हमेशा तबीयतको ही रोता रहता है।" और पैण्टकी जेबोंमें हाथ डाले वह खटाखट सीढ़ियाँ उतर गया।

मैंने थाली कमरेमें ही मँगा ली। जल्दीसे कुछ खाया, किताब हाथमें ली और खिड़कीके पास जम गया।

मज़दूरोंकी गन्दी धुँधुँआती बस्तीको छोड़ चाँद आज जल्दी ही ऊँचा उठ आया और पोखरके किनारे खड़े ताड़के लम्बे-लम्बे वृक्षोंकी कतारपर बैठ गया। मेरी निगाहें बार-बार खिड़कीकी ओर उठतीं और हरे पल्लोंसे टकराकर लौट आतीं।

इधर नीचेसे नौकी टंकार आई और उधर खिड़कीके पल्ले खुले।

मैंने झट आँखें किताबमें गड़ा दीं। जब उठाईं, तो वह यन्त्रमें कुछ बोल रही थी। वे प्यारे-प्यारे फड़कते होंठ, वह उड़-उड़ जाता पल्ला और बार-बार आँखोंके आगे आ-आ जाती वे रूखी शोख लटें! मैं मुग्ध-सा देखता रहा।

उसके दोनों हाथ स्विचबोर्डमें व्यस्त थे। वह गर्दन झटककर लटोंको पीछे फेंकती, लेकिन गुस्ताख लटें फिर आँखोंपर आ जातीं। कितनी परेशानी हो रही थी उसे!

तीसरे दिन। अलसायी उमसभरी रात। उसका माथा पसीनेसे गीला हो आया था। सारी शोखी भूलकर लटें माथेपर चिपक गई थीं। लेकिन उसे इतनी भी सुध नहीं कि पसीना पोंछ ले। काश, मैं कुछ कर पाता उसके लिए!

यह क्या होता जा रहा है तुम्हें? नितान्त अजनबी लड़की, एक बार

बोले तक तो नहीं। फिर यह कैसा मोह! कैसी आत्मीयता!! क्यों यह समवेदना? आखिर किसलिए?

पर वह इधर देखती क्यों नहीं? खाली मशीनकी तरह काम करती रहती है। राजेश तो कहता था कि यहाँकी छोकरियाँ पूरी जादूगरनी होती हैं। लेकिन, यह तो देखती तक नहीं।

कई रोज़ गुज़र गये। उसने आँखें उठाकर एक बार भी नहीं देखा। कम-से-कम मैंने उसे इधर देखते हुए नहीं पाया। न जाने, कैसी हैं उसकी आँखें!

उस रात चाँद बहुत बड़ा, बहुत उजला था। बस्ती और पोखरको पारकर अब सामने छतपर लगे तारमें उलटा लटक रहा था।

सहसा लगा, उसने इधर देखा। नहीं, शायद मेरा भ्रम था।

फिर देखा। और इस बार देखती ही रही। काफ़ी देर तक हमारी निगाहें मिली रहीं। आख़िर हड़बड़ाकर मैंने दृष्टि हटा ली।

कितनी बड़ी-बड़ी हैं वे आँखें! लेकिन इतनी व्यथाभरी क्यों हैं? क्या दुःख है उसे?

उस रात उसने कई बार देखा। और देर-देर तक देखती रही। लगता था, जैसे कुछ अस्थिर है, जैसे कुछ कहना चाहती है।

क्या बात है आज! क्या कहना चाहती है वह!!

रातभर मेरे आगे वही व्यथाभरी, कुछ पूछती-सी निगाहें घूमती रहीं।

सुबह चारके क़रीब खिड़कीके दोनों पल्लोंपर हाथ रखे, पूरे दो मिनट तक वह देखती रही। मैंने चाहा, पुकारकर पूछूँ, कहो, तुम्हें क्या दुःख है। लेकिन चुप रहा।

खिड़की बन्द हो गयी।

दिनभर जी बड़ा उदास रहा। वह क्या कहना चाहती थी ? उसकी आँखोंमें इतनी गहरी व्यथा क्यों थी ? मैंने पूछ क्यों न लिया ?

आज ज़रूर पूछूँगा।

साँझ ढली। रात घिर आयी। आखिर नीचेसे नौके घण्टे सुनाई दिये। चाँद आकर छतके तारसे लटक गया। पोखरसे कपड़े धोनेकी आवाज़ आने लगी।

लेकिन खिड़कीके पल्ले नहीं खुले।

नीचे दरवानके भजनकी गुनगुनाहट और चर्खेकी घर्र-घर्र बन्द हो गई। बससे उतरकर दोनों शराबी मज़दूर भी डगमगाते क़दमोंसे चले गये। एक ही करवट लेटे-लेटे मेरे शरीरका दायाँ अंग दुखने लगा—लेकिन खिड़की बन्द ही रही।

मेरे आगेसे वे व्यथाभरी निगाहें हटती ही नहीं थीं। किसी अज्ञात आशंकासे मेरा दिल बैठा जा रहा था। न जाने, क्या बात है !

साथी खर्राटे भरने लगा। कीड़ेकी भनभनाहट बन्द हो गई। बार-बार निगाहें खिड़कीके बन्द पल्लोंसे टकराकर सूनी लौट आतीं। एक अभाव-सा महसूस हो रहा था, जैसे अपना कोई आत्मीय बिछुड़ गया हो।

वह सारी रात मैंने जागकर काट दी।

दूसरे दिन भी खिड़की नहीं खुली।

तीसरे दिन भी नहीं।

चौथे दिन भी नहीं।

दोनों इमारतें पास-पास थीं। सोचा, दरवान लोग तो आपसमें मिलते-जुलते रहते हैं। शायद अपने दरवानसे ही कुछ पता लगे। शामको कालिजसे लौटा तो वह गेटपर खड़ा मिला। आखिर पूछ ही लिया, "क्यों दरवानजी, यह बगलवाली टेलीफोनकी इमारत...." समझमें नहीं आया कि वाक्य कैसे पूरा करूँ !

बूढ़े दरवानने दाढ़ीपर हाथ फेरा। बोला, "अरे शरद बाबू! आप नहीं जानते? अब तो टेलीफोन अपने आप बोलेंगे। लड़कियोंकी जरूरत नहीं रही। सबको छुट्टी मिल गई। बेचारी लड़कियाँ! बाबू, आजकलके कामका कोई ठिकाना भी है!"

ओह, तो इस लिए उस रात वह इतनी दुखी दिखाई दे रही थी! मैं बिना आगे सुने सीढ़ियाँ चढ़ गया।

अब हर समय मेरी निगाहें उसीको खोजती रहतीं। सड़कपर चलते-चलते भी।

शामको चौरंगीपर दोस्तोंके साथ जा रहा था। लगा, जैसे बस-स्टापके पास वह खड़ी है। उतावलीसे उधर बढ़ा ही था कि वह बसमें चढ़ी और बस चल पड़ी।

कुछ दिन बाद वह बिजलीके खम्भेके नीचे अकेली खड़ी दिखाई दी। उधर बढ़ूँ, बढ़ूँ कि वह भीड़में ग़ायब हो गई।

एक दिन पाससे दौड़ती टैक्सीके भीतर निगाह गयी। देखा—वही बैठी थी, किसीके साथ।

फिर एक दिन शामको ही विक्टोरिया मैदानमें उसे देखा—किसी दूसरेके साथ।

क्या हो गया है मेरी आँखोंको! मैं पागल हो जाऊँगा!!

उस दिन शामको दोस्तोंके साथ काफ़ी देर तक चौरंगीकी भीड़में धक्के

खाता घूमता रहा। अचानक लगा, हम सँकरी गलियोंमेंसे गुजर रहे हैं। कलकत्तेमें इतनी तंग और अँधेरी गलियाँ! मैं आश्चर्य कर ही रहा था कि बायीं ओरके एक छोटे-से दरवाज़ेपर दो-तीन खड़ी दिखाई दीं। आगे निगाह दौड़ाई तो टेढ़ी-मेढ़ी जाती उस सँकरी गलीके दोनों ओर हर दरवाज़ेपर दो-चार, दो-चारके झुण्ड!

पैर ठिठक गये। झुँझलाकर मैंने पूछा, "यह हम लोग कहाँ आ गये?"

राजेशने पलटकर मेरा हाथ पकड़ा। खींचता हुआ-सा बोला, "बस, देखते चलो।"

"नहीं, नहीं, मैं नहीं चलूँगा।" और मैं पीछे मुड़ा।

दूसरे साथीने मुझे दूसरी ओरसे पकड़ा। हम आगे बढ़े।

अचानक दाहिनी ओरके दरवाज़ेपर मेरी दृष्टि अटक गई। चौखटके सहारे पीठ लगाये 'वह' खड़ी थी। वही गेहुएँ रंगके भरे-भरे गाल, छोटी-सी ठुड्डी और शून्यमें ताकती व्यथासे भीगी बड़ी-बड़ी आँखें। होठोंपर पपड़ीकी जगह लाल लिपस्टिक। माथेपर उड़तीं वे शोख लटें दो चोटियोंमें गूँथी हुई।

मैंने झटकेसे हाथ छुड़ाये और एकदम उसके सामने जाकर खड़ा हो गया।

"तु····तुम····आप यहाँ····इस जगह····" आवेशके मारे मेरे मुँहसे आवाज़ नहीं निकल रही थी।

चौंक कर उसने आँखें मेरी ओर उठाई—कैसी कुछ वेदना छलक रही थी उनमें—फिर जैसे कुछ भूली बात याद की, और एकदम दोनों हथेलियोंसे अपना चेहरा ढाँप लिया, पलटी और सुबकती हुई भीतर भाग गई।

मेरे दोनों साथी हैरतसे मुँह बाये खड़े थे। मैं भी पलभर किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा रहा। फिर एकदम पलटा और उस सँकरी गलीमें बेतहाशा दौड़ने लगा, मानो हज़ारों लाखों साँप फन उठाये मेरा पीछा कर रहे हों।

बीनाके बापू

चौथी मंजिलके एक कमरेमें खिड़कीके पासकी कुर्सीपर बैठे गोकुल बाबू टेबलपर झुके हुए कुछ लिखनेमें व्यस्त थे। सुदूर गंगाके चौड़े पाटके उस पारसे ढलते सूरजकी पीले पराग-सी किरणें खुली खिड़कीसे प्रवेश कर उनके झुके हुए सिरके दूध-से श्वेत बालों, दायीं कनपटी और दायें गालकी झुर्रियोंदार सलवटों तथा ठोढ़ीपर बढ़े हुए दाढ़ीके छोटे-छोटे सफ़ेद बालोंपर पड़ रही थीं।

धीरे-धीरे भीतर और बाहरकी फ़िज़ामें धुँधलापन भर गया। सिर टेबलपर कुछ और झुक गया।

बगलकी दीवारका दरवाजा फ़टाकसे खुला और चौखटपर एक युवती दिखाई दी—"अरे! आप यहीं बैठे हैं, और वह भी अँधेरेमें, आपकी यही आदत तो····"

'खट्'से स्विच दबनेकी आवाज़ हुई और पीला-पीला-सा बल्ब जल उठा। कमरेका धुँधलापन जैसे डरसे दुबककर तुरन्त खिड़कीकी राह निकल भागा।

बल्बके पीले प्रकाशमें छितरे हुए सफ़ेद बाल चमक उठे। झुका हुआ सिर पलभरके लिए ऊपर उठा, दो बुझी-बुझी-सी रूखी आँखें युवती-की ओर एक बार उठीं और फिर टेबलपर बिखरे काग़ज़ोंपर झुक गयीं।

युवती टेबलकी ओर बढ़ती हुई झुँझलाहट-भरे स्वरमें बोली, "आपसे कितनी बार कहा, पिताजी, कि चीनी, चाय, आटा, घी, चावल और···· कुछ भी तो नहीं है घरमें। आप हैं कि कुछ ध्यान नहीं देते, जब देखो लिखते रहते हैं। क्या खाना नहीं बनाऊँ आज····?" और युवतीने धीरेसे वृद्धका कन्धा झकझोरा।

सफ़ेद बालोंवाला वह सिर ऊपर उठा। उन दो बुझी-बुझी-सी आँखों-में एक विशेष कठोरता और झुँझलाहट झाँक गयी।

"हुँ, मुझे क्या....?" और युवती बड़बड़ाती हुई लौट चली। दरवाज़े-के पास पहुँचकर वह रुकी, मुड़कर देखा, वह सफ़ेद बालोंवाला सिर टेबल-पर फिर झुक चुका था।

वह क्षणभर खड़ी देखती रही। इनकी यह झक अच्छी नहीं। दुनिया पहले अपने घरमें चूल्हा जलाती है। इनके साथी आज ऊँचे-ऊँचे व्यवसायी या सरकारी पदोंपर हैं, लाखों बना रहे हैं और एक ये हैं.... हुँ....पत्नी मरते मर गयी, बेटी अनपढ़ रह गयी और ये ख़ाली अपनी झकके पीछे पागल हैं। स्वाभिमानको रोते हैं !....दम भरते हैं कि सरकार इनसे डरती है, कि समाज इनकी विद्वत्ताका कायल है, कि....और घरमें चूल्हा जलानेको लकड़ी नहीं। यह अच्छी देश-सेवा है !....हुँ, देश-सेवा ! !...."

युवती कमरेकी बिखरी हुई चीजें ठीक-ठाक करने लगी। वह बीच-बीचमें झुँझलाकर बड़बड़ा उठती थी।

× × ×

क़रीब दो घण्टे बाद !

कान सतर्क थे, आँखें अपलक वक्ताकी ओर ताक रही थीं, शरीर आप ही आप कुर्सियोंपर कुछ आगे झुक गये थे ताकि पूर्ण एकाग्रतासे सुन सकें। सब जड़ प्रतिमाओं-से स्थिर बैठे थे। साँसें तक रुक गयी-सी जान पड़ती थीं। गतिमय थी तो केवल वक्ताकी सधी हुई, मेघों-सी घहराती आवाज़ जो हालके गहरे सन्नाटेमें कुर्सियों और दीवारोंसे टकरा-टकराकर गूँज रही थी।

डेढ़ घण्टे तक सुध-बुध भूले श्रोता तन्मय सुनते रहे, वक्ता धारा-प्रवाह बोलता रहा।

भाषणकी समाप्तिपर अपने-अपने माथेकी सलवटोंपर झलकते पसीनेको

पोंछते हुए वक्ता मञ्चसे उतर रहे थे, तो कुछ श्रोताओंने उन्हें चारों ओरसे घेर लिया।

एक युवकने आटोग्राफके लिए कापी उनकी ओर बढ़ाते हुए कुछ संकोच और अनुनय मिश्रित स्वरमें कहा, "कभी हमारे कालिजकी ओर भी आइए न, दादाजी।"

"कौन-सा कालिज बेटा ?" थके स्वरमें वृद्धने पूछा।

"जी, नया कालिज। आपहीके कारण तो उसकी इमारत बन सकी थी। अपना सब कुछ तो दे डाला था आपने उसके लिए। मैं वहींकी कालिज-यूनियनका सेक्रेटरी हूँ। सच, आपके जीवन फूँक देनेवाले वचन सुननेके लिए विद्यार्थी बहुत उत्सुक हैं, दादाजी।" युवक बिना रुके एक ही साँसमें बोल गया। फिर उसने प्रश्न और अनुनयके भावोंकी मिली-जुली दृष्टिसे उनकी ओर देखा।

"अच्छा, ज़रूर आऊँगा किसी दिन", वृद्धके सूखे होठोंपर आत्म-तुष्टिकी एक क्षीण मुसकराहट पलभरके लिए आकर विलीन हो गई।

उत्तर सुनकर विद्यार्थी उत्साहित हो कुछ और बोलनेवाला था, कि उसी समय दोनों कोहनियोंसे भीड़को चीरकर रास्ता बनाते हुए एक ठिंगने क़दके कुछ मोटेसे सज्जन घेरेके भीतर पहुँचे, और विद्यार्थीको बोलनेका अवसर दिये बिना ही खुद बोलने लगे : "गोकुलबाबू, इन तीन-चार महीनोंसे आपने कोई चीज़ नहीं दी। बिना आपका कोई लेख गये पत्र अधूरा-सा लगता है।"

गोकुल बाबूने स्थानीय 'लोक-जीवन' के सम्पादककी ओर, जो उनके पिछले तीन लेखोंका पारिश्रमिक डेढ़ सालसे हज़म किये बैठे थे, कुछ व्यंग्यसे मुसकराते हुए देखा। बोले, "अच्छा भाई, दूँगा।"

कुर्सियोंकी सँकरी कतारमेंसे रुककर निकलते हुए प्रान्तीय धारासभाके सदस्य मि० सिनहा अपने पीछेवाले साथीसे मुड़कर कह रहे थे, "इस

व्यक्तिमें गज़बकी भाषण-शक्ति है, यार ! कहीं यह पार्लियामेण्टका सदस्य होता...."

"हाँ, लेकिन कुछ सनकी भी है। अपनी परिस्थितिसे लाभ उठाना नहीं चाहता, या शायद इस कलाको जानता ही नहीं।" साथीने उत्तर दिया।

सीढ़ियोंपर भीड़में रुक-रुककर उतरते हुए अर्थशास्त्रके प्रोफ़ेसर सहाय कह रहे थे, "कुछ भी हो भई, मैं तो इसकी दलीलोंका क़ायल हूँ। जो आर्थिक स्कीम आज इसने बतलाई उसे सरकार यदि मान ले...."

"ख़ाक आर्थिक स्कीम बतलाई है ! पहले अपने घरकी आर्थिक दशा तो सुधारें।" बीचमें बात काटकर कुछ चिढ़ी हुई आवाज़में नगरके एक प्रसिद्ध उद्योगपतिने कहा। फिर कुछ मुँह बनाकर बोले, "मैंने एक योजना बतलाई थी इन्हें, मान जाते तो आज लखपति होते, मगर ये तो धर्मराज युधिष्ठिर बने फिरते हैं न !"

स्थानीय कहानीकार महेन्द्र, लेडी टीचर मिसेज उपाध्याय, इनकमटैक्स-के वकील मि० भटनागर सभी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भाषण या वक्ताकी खुले दिलसे तारीफ़ करते हुए एक-एक कर चले गये। लाइब्रेरीकी इमारतके सामने लगी हुई कारोंकी लम्बी कतार धीरे-धीरे कम हो गई।

जब गोकुल बाबू सीढ़ीकी ओर बढ़े तो हॉल और सीढ़ी प्रायः ख़ाली हो चुके थे। तूफ़ानके बादकी एक मनहूस शान्ति, एक अव्यक्त शिथिलता उनके अंग-अंगमें व्याप्त थी। थके क़दमोंसे वह धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी उतर रहे थे। इमारतसे गेट तकके कंकरीले पथपर चप्पलका कीला पैरके तलवेमें चुभने लगा। वे गलीमें निकल आये। वहाँ खड़ी हुई आख़िरी कार भी सर्रसे उनकी बगलसे होती हुई आगे बढ़ गई।

सामने विक्टोरिया मेमोरियल वाले खुले मैदानसे शीतल हवाका एक झोंका आया। उन्हें कुछ ठंढ महसूस हुई। शरीरके रोयें एक सिहरनके साथ सीधे खड़े हो गये। दोनों मुट्ठियाँ भींचकर उन्होंने बग़लमें दबा लीं और

बुदबुदाये, "जल्दीमें कोट पहिनना भी भूल गया। फटा था तो क्या हुआ; ठंढसे तो बचाव हो जाता।"

अचानक उन्हें वीणाकी याद आई। बेचारी खाना लिये मेरा इन्तज़ार कर रही होगी। अरे ! सामान तो था ही नहीं, खाना कैसे बनायेगी ? उनके पैरोंकी गति और शिथिल हो गई। वीणा ! बेचारी लड़कीने जबसे होश संभाला, दुःख, कष्ट और अभाव ही देखती आयी है। मेरी कितनी चिन्ता है उसे ! एक मैं हूँ कि उसे ठीकसे शिक्षा भी नहीं दिला सका। कितनी बड़ी हो गयी····! उसकी शादी कैसे करूँ ?····वह भी क्या सोचती होगी····पर मैं करूँ भी क्या ?

पलभरके लिए उनका हृदय विचलित हुआ। सोचा, क्या सेठकी योजना मान लूँ ? एक साथ पचास हज़ार ! या फिर रायसाहबके कथनानुसार करूँ ! करना ही क्या है ? एक बार चुनावमें खड़ा होकर अन्तमें उनके पक्षमें नाम वापस लेना है। मोटी रक़म मिलेगी, वीणाकी शादी हो जायेगी।····वे क्षणभर अस्थिरसे खड़े रहे।····लेकिन, जिस पैसेको मैं ज़िन्दगीभर हेय समझता आया उसीके लिए अब अपने सिद्धान्तोंका ख़ून कर दूँ—वह भी इस बुढ़ापेमें ? नहीं, नहीं, नहीं, टूट भले ही जाऊँ, मुड़ूँगा नहीं। उनके चेहरेपर दृढ़ताकी रेखाएँ उभर आयीं।

गलीकी मोड़वाले बस-स्टैण्डके खम्भेका सहारा लिये वे कुछ देर खोये-से खड़े रहे।

अचानक ही उन्हें ट्यूशनकी याद आई। शिथिल क़दमोंमें एकदम न जाने कहाँकी स्फूर्ति आ गयी। यदि आज पढ़ाने नहीं गया तो कल राय साहब पूछेंगे। क्या जवाब दूँगा ? यही तो एक सहारा बचा है—आजीविकाका एकमात्र उपाय।

फुर्तीसे उन्होंने सड़क पार की और अभी रेंगती-सी बसमें चढ़ गये। सीटें सब भरी थीं। छतके साथ लगा लोहेका डण्डा पकड़े वे खड़े रहे।

मैं अपनोंको क्या सुख दे पाया ? इतना सम्मान किस कामका ! तो क्या मैं आज तक भ्रममें था ?

तभी छोटी-छोटी दाढ़ी-मूँछोंवाले छोकरेसे कण्डक्टरने उनकी ओर हाथ बढ़ाकर पूछा, "बाबू साहब, टिकट हो गया ?"

गोकुल बाबूने कमीजकी जेबमें पैसोंके लिए हाथ डाला। दायीं जेब ख़ाली थी। बायीं भी ख़ाली ही निकली। कुछ व्यस्तसे होकर उन्होंने ऊपरी जेबके काग़ज़-पत्र बाहर निकाले····

संकोच और घबराहटसे इस ठंडी रातमें भी उनके माथेपर पसीना आ गया। कैसी-कुछ विवश दृष्टिसे उन्होंने कण्डक्टरकी ओर देखा। बड़बड़ाते हुए कण्डक्टरने तुरन्त रस्सी खीचीं। टन्नसे घण्टी एक बार बजी। चूँ-चींकी तीखी आवाज़के साथ बस कुछ दूर तक घिसटकर खड़ी हो गयी।

लाजसे पानी-पानी होते हुए उस ठिठुरती रातमें वे काँपतेसे नीचे उतर गये।

बायीं ओरके फुटपाथपर पेड़ और बिजलीके खम्भोंके नीचे-नीचे दोनों हाथोंकी मुट्ठियाँ बग़लमें दबाये ठिठुरते हुए वे आगे बढ़े। कितना बेवफ़ा है ज़माना, जिसके लिए इतना सब किया ! तो क्या आज तककी मेरी साधना ग़लत थी ? क्या मैं आज तक भटकता ही रहा हूँ ? वे विचारोंमें डूबते-उतराते धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहे। दूर चौरंगीपर रंग-विरंगी बत्तियाँ चमक रही थीं। दाहिनी ओर चौड़ी सड़कपर बेतहाशा कारें और बसें दौड़ रही थीं।

रात ग्यारहके करीब वे घर पहुँचे। शरीरके सब अंग ठंढ और थकावटसे अकड़ गये थे। चार तल्लेकी सीढ़ियाँ ! उनके पैर काँप रहे थे। बेचारी वीणा भूखी ही सो गयी होगी। चढ़ते, बैठते, सुस्ताते, चढ़ते वे ऊपर पहुँचे। कमरेका दरवाज़ा खुला हुआ था। चौखटके सहारे अपने गिरते शरीरको किसी तरह सँभाले वे खड़े रह पाये। देखा, वीणा चूल्हेके पास बैठी थी। घुटनोंके इर्द-गिर्द बाहोंका घेरा और उनपर अपना माथा

रखे वह बैठी ही बैठी सो गयी थी। कोयले राख बन चुके थे। थालीका गीला आटा सूखकर कड़ा हो गया था।

तो यह अभी तक मेरा इन्तज़ार कर रही है, मुझे गरम-गरम खिलानेके लिए! मेरी बेटी....और उन्हें लगा कि वे गिर पड़ेंगे। चौखट उन्होंने और मज़बूतीसे पकड़ ली। स्नेह-भीगे स्वरमें पुकारा, "बीनू, बीनू बेटा!"

वीणाने गर्दन उठायी। 'ओह, पिताजी!'....और वह दौड़कर वृद्धसे लिपट गयी मानो अपने पिताके मुँहसे यह प्यारा सम्बोधन, स्नेहमें भीगी यह आवाज़ उसने आज पहली बार सुनी थी। "कितनी देर कर दी आपने! मैं तो घबरा गयी थी"....और उसका गला रुँध गया। वह आगे बोल नहीं सकी।

वृद्ध गोकुल बाबू अपनी बेटीके रूखे बालों और पीठपर स्नेहसे हाथ फेरते रहे। उनके अंगोंकी थकावट, मनकी ग्लानि और अवसाद दूर होते जा रहे थे। उन्हें लगा जैसे ज़िन्दगी भर भटककर, थककर, आख़िर उन्होंने अपना लक्ष्य-स्थान पा लिया है। वीणाके लिए उन्हें जीना है, बहुत कुछ करना है।

रातके साढ़े ग्यारह बजे, जब समूचा मकान सो रहा था, चौथी मंजिलके उस कमरेमें वीणा हँस-हँसकर अपने वृद्ध बापूको गरम-गरम फुलके बनाकर खिला रही थी।

भूख

पगण्डडी सुनसान थी। सुनसान समूची फ़िज़ा ही थी। हाँ, कभी-कभी स्यारोंकी 'हुआँ-हुआँ' उस भयावह स्तब्धतामें, यहाँसे वहाँ तक, एक सिहरन, एक कँप-कँपी भर देती और छा जाती फिर वही मौत-सी शान्ति। किन्तु रामदास इस भय-प्रद सन्नाटे और इसे भंग करती 'हुआँ-हुआँ' की चीख-पुकारसे एक समान अप्रभावित अपनी सदैवकी मस्तानी गतिसे साइकिलके पैडिल मारता आगे बढ़ता रहा—बढ़ता रहा।

रामदास महन्त गोकुलदासका शिष्य था। अटल विश्वास था महन्तजी-को उसपर। अविवाहित तो महन्तजी और उनके अन्य सभी चेले भी थे, मज़बूरी जो थी, किन्तु रामदास उनसे एकदम भिन्न था। महन्तजी भक्ति और शृंगारके साथ-साथ आस्वादनमें विश्वास रखते थे। अतः मठमें जहाँ एक ओर कीर्तन और भागवत—पाठ होता, प्रसाद और चरणामृतका बोलबाला रहता वहीं दूसरी ओर महन्तजीके विलास-भवनमें कामिनियोंका मधुर हास और चल-चितवनका आयोजन भी, अंगूरीका दौरदौरा भी। रामदास नदारत। महन्तजी प्रायः पूछते, "रामदास नहीं दिखता रे!"

और पास खड़ा चेला दोनों हाथ जोड़कर निवेदन करता, "नहीं महाराज, यहाँ कहाँ! वह तो कहीं दण्ड पेलता होगा, या सीख रहा होगा कुश्तीके दाँव-पेंच।"

सचमुच आस-पासके अखाड़ोंमें रामदासके जोड़का गठीला जवान दूसरा नहीं था। सदैव घुटा हुआ सिर और दाढ़ी-मूँछसे सफाचट मुख जो यौवन और ब्रह्मचर्यकी दीप्तिसे दमकता रहता—कश्मीरी सेव-सा गोल-मटोल, कन्धारी अनार-सा लाल-गाल।

महन्तजी उसके गुणोंसे परिचित थे, उसे स्नेह भी करते थे। अतः लगान-वसूली और उत्सवों-त्योहारोंपर भेंट-पूजा आदि एकत्र करनेका महत्त्वपूर्ण कार्य उसीके जिम्मे था। रामदास गाँवोंके दौरे करता। बड़ी भव्य होती उसकी वेश-भूषा उस समय। गौरवर्ण चौड़े माथेपर त्रिपुण्ड, चिकने कोसेका लम्बा कुरता जिसके सदैव खुले रहनेवाले तीन बटनोंसे विशाल वक्षपर उगे हुए घने काले बाल झाँकते रहते दो लांग वाली ऊँची धोती जो पिण्डलियोंकी मांसल गठानको छिपानेमें असमर्थ थी। हाथमें एक डण्डा। गाँव वाले श्रद्धासे, या सम्भव है आतंकसे, मचानोंसे उठ-उठकर, खेतोंसे पुकार-पुकार कर, रामदासकी अभ्यर्थना करते। उनकी निगाहोंमें वह भावी महन्त था।

छोटे-छोटे देहात। आवागमनके साधन थे नहीं। एकमात्र बैलगाड़ी, जिसकी खचर-खचरसे रामदासको चिढ़ थी। अतः गाँवोंके दौरे वह अक्सर अपनी साइकिल—जिसे प्यारसे वह 'भवानी' पुकारता था—पर ही किया करता।

साँझ होते ही सूना रास्ता साँय-साँय करने लगता। ऐसे समय जब वह किसी गाँवसे लौटने लगता, तो प्रायः गाँव वाले हाथ जोड़कर अनुरोध करते, "महाराज! आजकी रात यहीं बिताइए। सुनसान रास्ता···· रातका अँधियारा····", फिर कुछ झिझकते हुए कहते, "सुना है, इधर भूत-परेतोंका डर····"

"भूत-प्रेत!" और रामदास बीचमें ही खिलखिलाकर हँस पड़ता।

सचमुच, एकबार तो उसने रातों-रात अस्सी मीलका बीहड़ रास्ता अपनी 'भवानी' पर तय किया था। गाँववाले सुनते और दाँतो तले उँगली दबाते।

तो उस दिन रामदास खेतड़ी गाँवसे लौट रहा था। वह सोच रहा

था आगामी मेलेके बारेमें। वैसे एक महीना और बचा था पर अभीसे दूकानोंके बाँस गड़ने शुरू हो गये थे, अखाड़ेके लिए जमीन खोदकर पोली की जा रही थी। रामदास बुदबुदाया, "बस, इस बार महन्तजीसे घोषणा करवा दूँगा कि उनके बाद गद्दी मेरी है" कि तभी फिस्सकी आवाज़के साथ 'भवानी' रुक गई। रामदास उतरा, देखा, पिछला चक्का पिचका हुआ था। 'पंचर' उसके मुँहसे निकला, और उसने थैलेकी ओर हाथ बढ़ाया कि तभी याद आया, पानी—बिना पानी, पंचरका पता कैसे लगेगा।

रामदासने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। रात एक पहर बीत चुकी थी, पर अभी अँधेरा गहराया नहीं था, गोधूलीका-सा धुँधलका छाया था। पासके खेतोंमें कटे हुए धानके छोटे-छोटे सूखे ठूँठ खड़े थे। सुदूर क्षितिजकी गोद में घने काले पेड़ोंकी दीवारका-सा आभास हो रहा था। और कहीं कुछ नहीं था। कुछ भी तो नहीं कहीं। क्षणभरके लिए मनमें कुछ भयका संचार हुआ, एक फुरहरी-सी दौड़ गई समूचे शरीरमें, पर दूसरे ही क्षण अपनी कमज़ोरीपर वह हँस पड़ा। हाथकी टार्चका प्रकाश इध-उधर फेंका—दाहिनी ओर कुछ दूरीपर एक झोंपड़ी थी।

रामदासने कमरमें बँधी हुई रुपयोंकी थैलीको टटोलकर देखा। फिर बायें हाथमें जलती हुई टार्च और साइकिलका हैंडिल, तथा दाहिनेसे कैरियरको पकड़कर पिछला चक्का कुछ ऊँचा उठाया। ऊबड़-खाबड़ रास्ते-से होता हुआ वह झोंपड़ीकी ओर बढ़ा। पास पहुँच, टार्चका प्रकाश भीतर फेंका—झोंपड़ी सूनी थी। एक टाटका टुकड़ा जिसपर गर्दकी परत, और कोनेमें एक मिट्टीका घड़ा जिसका मुँह मकड़ीके जालोंसे ढँका हुआ। बस!

रामदास अनिश्चित-सा खड़ा क्षण भर सोचता रहा। फिर खिसियाया-सा हँस पड़ा। "आजकी रात यहीं सही।" उसने झोला उतारकर साइ-किल बाहर लिटा दी, भीतर टाटके टुकड़ेको झाड़कर ठीकसे बिछाया, और बैठकर थैलेसे सामान निकालने लगा।

उसके हाथ सामान निकाल रहे थे, और मस्तिष्क सोच रहा था : इस बार केवल सवा सौ रुपये ही जमा हुए हैं, पर अभी तो मेलेका एक महीना बाक़ी है। और जमा कर लूँगा। हर हालतमें महन्तजीको ख़ुश रखना ही है।

वस्तुतः रामदासकी एक मात्र आकांक्षा थी—महन्तकी गद्दी।

तबतक सामने अख़बारके टुकड़ेपर सामान लग चुका था। सोचते-सोचते ही रामदासने परौठेका एक टुकड़ा तोड़कर उसमें आलूकी सूखी तरकारी लगाई, हाथ मुँहकी ओर बढ़ाया········कि तभी किसीकी पदचाप सुनायी दी। हाथ ठिठक गया।

गौरसे इधर-उधर देखा : कुछ नहीं। झोंपड़ीके भीतरका कुछ हिस्सा टार्चके प्रकाशसे चमक रहा था और बाहर छाया था दूरतक धुँधलका जो अब गाढ़ा हो चला था। तो क्या भ्रम हुआ? तभी कहीं पास ही मोरकी 'पि—ऊ—ऊ—ऊ—ऊ' की पतली आवाज़ रातकी स्तब्ध फ़िज़ाको चीरती-सी दूरतक चली गई, चलती चली गई। फिर तो 'पिऊ—ऊ—ऊ पिऊ—ऊ—ऊ' की चीख़ोंसे समूचा वातावरण अस्त-व्यस्त हो उठा।

फिर वही मौत-सी शान्ति

पदचाप अब अधिक स्पष्ट हो गई थी। रामदास उठने ही वाला था कि तभी एक लम्बी मनुष्याकृति, कुछ झुकते हुए, झोंपड़ीमें घुसी। बिना रामदासकी ओर एक बार भी देखे, वह आकृति कुछ हटकर बैठ गई। रामदासने टार्चका प्रकाश उधर किया।········देखते ही सिहर उठा! एक कंकाल-मात्र! लगता था, हड्डियोंके ढाँचेपर चमड़ी चिपका दी गई हो। बिना बटनका जगह-जगहसे फटा हुआ कमीज़ और वैसी ही फटी हुई घुटनोंतक ऊँची धोती।

"तुम कौन हो?" रामदास बरबस चीख़-सा उठा।

"गोपी", शान्त, करुण-सा स्वर था उत्तरका।

तबतक रामदास व्यवस्थित हो उठा था। अपनी कमज़ोरीपर मन ही

मन बड़ी शर्म लगी उसे। उसने खाना शुरू कर दिया। खाते-खाते ही फिर पूछा, "राही हो?"

उत्तर न मिलनेपर रामदासने उधर देखा। दो आँखें अपलक उसीके अख़बारकी ओर ताक रही थीं। कैसी कुछ तृष्णा, एक भूख थी उन आँखों-में, एक विवश निरीहता। रामदासको अपनी ग़लती महसूस हुई। पूछा, "खाओगे?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"अब भूख नहीं लगती", कैसी कुछ व्यथा थी शब्दोंमें!

"भूख नहीं लगती।" रामदासने अनजानमें ही दुहराया। फिर पूछा, "क्या मतलब?" रामदास शायद 'अब' नहीं सुन पाया था।

"मतलब?....कुछ नहीं।" और एक विचित्र सूखी-सी हँसी जो स्यारोंकी 'हुआँ-हुआँ' में विलीन हो गई।

रामदाससे खाया नहीं गया। उसे महसूस हो रहा था कि दो आँखें कुछ अजब तरीकेसे एकटक उसके खानेकी ओर ही ताक रही हैं। बड़ा कैसा-कैसा लगा उसे। अख़बारके टुकड़ेको खाने सहित मरोड़कर एक कोनेमें फेंक दिया। एक अजब सुस्ती-सी छाती जा रही थी उसके तन-मनपर।

अनजान सूनी जगह, बाहर गाढ़ा अँधेरा और सायँ-सायँ बहता पवन, भीतर टार्चका क्षीण प्रकाश जिसमें एक नर-कंकालकी एकटक ताकती दो अजब-सी आँखें। बड़ा कैसा-कैसा लग रहा था रामदासको! एक झटकेसे इन विचारोंको उसने पीछे ढकेला और रुपयोंकी थैली टटोली। फिर मेले और अखाड़ेकी बात सोचनेकी चेष्टा करने लगा।

धीरे-धीरे उसके मस्तिष्क और शरीरके सब अवयवोंपर एक शिथिलता छाती जा रही थी। आँखें मुँदने लगीं। न चाहते हुए भी वह उसी टाटके टुकड़ेपर लेट गया। उनींदी आँखोंको खोलनेकी चेष्टा करते हुए रामदासने कहा, "तुम भी सो जाओ।"

उसका साथी उसी प्रकार बैठा था। घुटनोंके चारों ओर दोनों बाहों-का घेरा बनाये, उनपर ठुड्डी टिकाये, झोंपड़ीसे बाहर फैले अभेद्य अँधेरेमें न जाने किसे ताक रहा था। बोला, "मुझे नींद नहीं आती।"

पर रामदासने इस उत्तरको सुना भी, नहीं भी। वह सो चुका था।

× × ×

डरावना सपना जैसे छातीपर कोई बैठा हो! चीख़नेकी उत्कट इच्छा, पर गलेसे आवाज़ नहीं निकलती। बेहाल! पसीनेसे तरबतर····कि तभी कुछ विचित्र-सी आवाज़ें सुनकर रामदासकी आँखें खुल गयीं। हड़बड़ाकर उठ बैठा। देखा, झोंपड़ीके खुले दरवाज़ेसे धूप भीतर आ रही है। बाहर बकरियोंके एक झुण्डकी 'म्हें—ए—ए, म्हें—ए' और बीच-बीचमें किसी आदमीके 'हे—ए—ए, हे—ए—ए' की आवाज़। सबसे पहले रामदासने टटोल-कर थैली देखी। वह कमरमें थी।

तभी रातवाले उस व्यक्तिकी याद आई। घूमकर इधर-उधर देखा, पर झोंपड़ीमें उसका कहीं पता नहीं था। "तो क्या वह सब भ्रम था, सपना था?" रामदास बुदबुदाया।

झोंपड़ीके दरवाज़ेपर आकर उसने बाहर बकरियाँ चराते गड़रियेको आवाज़ दी, "क्यों भाई, तुमने उस आदमीको देखा है? लम्बा-सा था···· क्या नाम बताया था उसने अपना····ग—गो—पी—हाँ, ठीक है गोपी नाम था उसका।"

गड़रिया पास आ गया। वह कुछ हँसा। "यह झोंपड़ी उसीकी तो है महाराज।" फिर जैसे कुछ याद आया हो, वह एकदम उदास हो गया। मुँह लटकाये उसने कहा, "पर वह तो क़रीब एक महीना हुआ···· मर गया।"

"मर गया!" रामदासके मुँहसे आप ही आप निकल पड़ा।

"हाँ, भूखसे तड़प-तड़पकर····इसी झोंपड़ीमें····मर गया था।"

"भूखसे !" रामदास बड़बड़ाया ।

तो क्या ?····तो क्या ? और रातकी धुँधली स्मृति एकदम जैसे सर्चलाइटसे प्रकाशित हो, उसके दिमाग़में कौंध गई । वह हड्डियोंका ढाँचा, उसकी वे निरीह भूखी आँखें—एकटक ताकती, उसका कहना, "भूख नहीं लगती", "नींद नहीं आती",—सब कुछ रामदासके सामने सिनेमाके परदेपर चलती तसवीरोंकी तरह साफ़ हो गया । वह ऊपरसे नीचेतक सूखे पत्ते-सा काँप उठा गोया न्यूमोनियाका मरीज़ हो ।

फिर पागलों-सा अट्टहास कर उठा, "हा ! हा ! हा ! हा ! भूख और मौत !—हा ! हा ! हा ! मौत····महन्तकी गद्दी—भूख—हा ! हा ! हा ! हा !"

वह झोंपड़ीके दरवाज़ेमें खड़ा था । उसके हाथोंकी हथेलियाँ दोनों ओरकी चौखटपर थीं और अट्टहासके कारण उसका समूचा शरीर ज़ोर-ज़ोरसे हिल रहा था ।

एक-पात्रीय नाटक

भैरोंजीवाला टीबा

दो तल्लेकी छतवाला चौबारा

बात जो मनने कही, मनने सुनी

भैरोंजीवाला टीबा

पात्र :

एक जाटनी

[राजस्थानके भीतरी अंचलमें एक मामूली-सा देहात। गोबर और मिट्टीसे लिपी-पुती और फूससे छायी एक झोंपड़ीके खुले दरवाज़ेके बीच बाईं चौखटपर एक हाथ रखे एक युवती जाटनी चेहरेपर प्रतीक्षाका भाव लिये खड़ी है। पासमें एक पाँच वर्षका बालक उसके घाघरेके निचले छोरको पकड़कर खींचता-सा मचल रहा है। जाटनी बच्चेको गोदमें उठाकर पुचकारती है और फिर दूर तक फैले बालूके टीबोंकी ओर हाथसे इशारा करती है]

जाटनी : वह जो ऊँचा टीबा है न !

[इस तरह मानो बच्चेको समझा रही हो]

वही
जिसकी बालूके पीले दाने
डूबते सूरजकी किरणोंसे
गले मिल रहे हैं

[बच्चेके कुछ न समझनेपर झुँझलाकर]

वही रे
अपना भैरोंजीवाला टीबा !
उसीके पीछेसे आयेगा
तेरा बापू !

[बच्चेके उसी तरह मचलते रहनेसे उसे गोदसे उतार देती है; आवाज़की झुँझलाहट कुछ कम हो जाती है]

जाटनी : ढोल-सी जीभ बलबलाती
मुँहसे झाग छोड़ती
लम्बी कटावदार गर्दनवाली
साँडनीपर सवार
मेरा बाँका जवान !
भैरोंजीवाले उस टीबेके पीछेसे
बस चिलकता ही होगा !

[झुंझलाहट बिलकुल दूर हो जाती है। उसकी जगह आवाज़में मिठास भर आती है]

जाटनी : सबसे पहले दिखाई देगी
—उसकी पाग
टेढ़े-मेढ़े पेंचवाली
यों ही लापर्वाहीसे लपेटी
—उसकी पाग
फिर दीखेगा उसका सीना
बंडीके खुले बटनोंसे बाहर उभर-उभर आता
चकले-सा चौड़ा उसका पुष्ट सीना
जिसके घने बालोंके बीच काले डोरेसे बँधा
साँडनीकी हर चालके साथ
ताल देता
उठता, गिरता, उठता
—ताबीज़
अपने मज़बूत पैरोंकी सख़्त पिण्डलियोंसे
रामीको तेज़ और तेज़ दौड़ाता
दिनभरका थका-माँदा
—मेरा जाट !

उस ऊँचे टीबेके पीछेसे अब
बस प्रगटता ही होगा !

[दूर टीबेसे दृष्टि हटाकर अपने आँगनमें चारों ओर देखती है]

जाटनी : इसीलिए तो मैंने
मूँजकी ढीली खाटको कसकर
आँगनमें डाल दिया है
—कि वह आकर बैठेगा
इसीलिए तो मैंने
चिलममें तमाखू भर दी है
कि वह बैठते ही
—इत्मीनानसे पीयेगा
बाहर चौकमें खेलते गंगूको बुला लिया है
कि वह
—दुलार करेगा
बाजरेकी नरम-नरम रोटियाँ सेंक दी हैं
कि वह
—गंगूके साथ बैठकर खायेगा
दिनभरका भूखा जो होगा
—मेरा जाट !
रातकी बासी दो रोटियाँ खाकर
साँड़नीपर बाजरेका बोरा लाद
बारह कोस दूर मंडीमें बेचने
मुँह-अँधेरे जो निकला था
भूखा तो होगा ही

—मेरा जवान !

[**अचानक आवाज़में कुछ-कुछ चिन्ता उभर आती है**]

जाटनी : लेकिन····लेकिन

अभी तक आया क्यों नहीं ?

इतनी देर तो कभी नहीं करता

फिर आज क्यों नहीं आया ?

[**चिन्ताकी मात्रा बढ़ जाती है**]

देखो न !

सूरजकी आख़िरी नोक भी

भैरोंजीवाला टीबा निगल गया है

और गंगूका बापू है कि

अभी तक नहीं आया

सूना रास्ता है

रास्तेकी कँटीली झाड़ियोंके पीछे

लुटेरे छिपे रहते हैं,

कहीं कुछ हो तो नहीं गया ?····

[**आवाजमें चिन्ताके साथ गर्वका पुट आ जाता है**]

ना-ना

मेरे जवानको डर काहेका !

वह चौड़ी छाती

पुष्ट पिण्डलियाँ

सख़्त हाथोंमें मिर्जापुरी लट्ठ

अकेला दसको भारी पड़ेगा

ना-ना

डर काहेका !

[**बेहद चिन्तित होकर**]

लेकिन फिर आया क्यों नहीं ?

[**आँगनवाले पेड़पर चिड़ियाँ चहचहाती हैं**]

जाटनी : यह जो आँगनका बूढ़ा पीपल है न
दिनभर उदास खड़ा रहता है
वह भी अब कैसा चहचहा रहा है
पंछी जो इसके लौट आये हैं !
वो जो ऊँची डालियोंके बीच घोंसला है न
चीलके बच्चे कैसे मरे-से पड़े थे उसमें
वे भी अब माँकी छातीके नीचे दुबके
चोंचमें चोंच मिलाये
कैसे टिटकारी भर रहे हैं !
लेकिन गंगूके बापू हैं कि
अभी तक नहीं आये
और गंगू है कि
सुबक-सुबककर रोये जा रहा है
इसके बापूने ही तो आदत डाली है
जब तक गुड़ न हो
रोटी गलेके नीचे नहीं उतरती
—निगोड़ेके !

[**गंगू सुबकने लगता है, तो मनानेके अन्दाज़में**]

जाटनी : बस अब देर नहीं बेटा !
बापू अभी आयेंगे,
गुड़की भेली लायेंगे !
गंगू बेटा खायेगा,
राजा मुन्ना खायेगा !!

बस अब देर नहीं बेटा !
देख तू फिर रो रहा है !
ऐसे न रो मेरे लाल !
मुझे भी न रुला मेरे लाडले !
अब देर थोड़े है मेरे कुँवर !
वह देखो
वह जो भैरोंजीवाला ऊँचा टीबा है न····
उसीके पीछेसे आयेंगे
—तेरे बापू !

[टीबेकी ओर दृष्टि उठाते ही अचानक चौंककर]

जाटनी : लेकिन····लेकिन
वह टीबा कहाँ चला गया ?
उसकी केसरिया बालू कहाँ ग़ायब हो गई ?
लगता है उसके गोरे मुखड़ेपर
रातने अपने अँधेरे हाथोंसे
मेरे चूल्हेकी राख पोत दी हो····
और वो अभी तक नहीं आये !

[टीबेके मन्दिरकी ओर हाथ जोड़कर प्रार्थनाके स्वरमें]

जाटनी : हे भैरों बाबा !
तू ही बता मैं क्या करूँ ?
रोज़की तरह मैंने तो आज भी सुबह
तेरे ऊपर तेल चढ़ाया था
आज भी पीपल देवतामें जल ढाला था
आज भी बाजरेकी रोटियाँ सेंकी थीं
और गंगूके बापूको देनेके पहले

एक रोटी तुझे चढ़ाई थी
गंगूको पाठशाला भेजा था
ख़ुद खेत चली गई थी
और ओढ़नी कमरमें लपेट
तब तक काम करती रही थी
जब तक कि सूरज तेरे ऊपर चढ़
फिर नीचे नहीं उतरने लगा था
तब मैंने वहीं खेतमें बैठ
झण्डू साहके घरसे मांगकर लाई छाछके साथ
सुबहकी सेंकी रोटियाँ खाई थीं
फिर मैंने ऊँटनीकी थकी हुई गर्दनपर हाथ फेरा था
और बचे हुए खेतको जोता था
और जब यह सूरज फीका पड़कर
भैरों बाबावाले टीबेपर खड़े
नीमकी डालियोंके बीचसे होकर
नीचे उतरने लगा था
तब मैंने घर आकर
आँगनमें बिखरे पत्तोंको बटोरा था
मूँजकी ढीली खाटको कसा था
पूरा सेरभर बाजरा पीसा था
नरम-नरम रोटियाँ सेंकी थीं
और तबसे
उस समयसे
गंगूके बापूकी बाट जोह रही हूँ
फिर मुझसे कहाँ चूक हुई ?
कहाँ चूक हुई
—भैरों बाबा ?

इसी अमावस्याको
गेहूँके आटेकी लापसी बनाकर
तुझे चढ़ाऊँगी
—बाबा !
मेरे गंगूके बापूको राज़ी-ख़ुशी रखना
—पीपल देवता !

[अचानक बच्चेका रोना बन्द हो जाता है तो चौंककर देखती है कि बच्चा ज़मीनपर ही सो गया है। उसे आँगन-की खाटपर सुला देती है और खड़ी-खड़ी उसके माथेको सहलाती है]

जाटनी : हाय, मेरा गंगू रोता-रोता भूखा ही सो गया है
रोटियाँ सूखकर अकड़ने लगी हैं
और तू भी झबरे
पूँछ हिलाते-हिलाते थककर बैठ गया है
पर तू ही बता
मेरा गंगू अभी भूखा है
मेरे गंगूका बापू अभी भूखा है
मैं अभी भूखी हूँ
फिर तू ही बता
तुझे कैसे रोटी दे दूँ मुँह-जले
—तू ही बता !

[पैर झटकती है]

अब तो खड़ा भी नहीं रहा जाता····

[खाटपर बैठ जाती है]

झबरे ! तू निगह रखना····

मेरी तो निगोड़ी आँखें मुँदी जाती हैं····
झबरे ! तू निगह रखना····

[बच्चेकी बगलमें सो जाती है। अचानक कुत्तेके भौंकने-की आवाज़ सुनकर चौंक उठती है, लेकिन पूरी तरह जागती नहीं, अर्द्ध-जागृतावस्थामें ही नींद-डूबी भारी आवाज़में बड़बड़ाती है]

जाटनी : हैं ! तू भूँका क्यूँ झबरे ?
यह ऊँटनीकी बलबलाहट-सी लगती है क्या गंगू ?
देख तो बेटा !
तेरे बापू आये दिखते हैं
—मेरे लाल !
तेरे लिए गुड़की भेली लाये होंगे
—मेरे लाड़ले !
उठ न, गंगू !
तेरे थके-माँदे बापू बाहर खड़े होंगे
और तू पड़ा सो रहा है
उठ न रे !····

[आवाज़ फिर नींदकी तेज-तेज चलती साँसोंमें डूब जाती है !]

दो तल्लेकी छतवाला चौबारा

पात्र :

एक युवती

[समय क़रीब ग्राठ बजे रातका है, लेकिन राजस्थानके उस गाँवमें अभीसे इस तरह सन्नाटा छा गया है, मानो आधी रात बीत चुकी हो। एक साधारणसे घरके दूसरे तल्लेके चौबारेमें मध्यम वर्गकी एक युवती गृहिणी पलंग-पर बैठी हुई है। उसने घुटनोंके चारों ओर अपने दोनों हाथोंका घेरा बनाया हुआ है और उसपर ठोड़ी रखे कुछ सोच रही है। चौबारेका दरवाज़ा खुला हुआ है। युवती-की डूबी-डूबी-सी निगाहें रह-रहकर उस खुले दरवाजेसे होती हुई आँगनवाले पीपलके पेड़तक जाती हैं और अँधेरेमें खड़े ख़ामोश पीपलकी पत्तियोंमें अटकी रह जाती हैं। धीरे-धीरे, बहुत धीरे-धीरे, कुछ इस तरह गोया आवाज़ पातालकी अनेक भूलभुलैयोंवाली गलियोंसे रेंगती हुई आ रही हो, वह बोलती है]

युवती : दिन तो बीत जाता है !

[एक लम्बी सर्द आह भरकर]

सुबह उठकर झाड़ू देती हूँ
रातके बासी बर्तन माँजती हूँ
सासकी न्हाकर छोड़ी हुई धोती छिटकती हूँ
फिर उसके पूजासे उठनेके पहले ही—
रसोई बना लेती हूँ
बाजरेकी नरम-नरम रोटियाँ सेंकती हूँ

सास उन्हें पोपले मुँहसे चिगल-चिगल खाती है
और जब वह आँगनमें खाटपर लेटी
तिनकेसे दाँत कुतरती होती है
तबतक मैं अपने पेटका गड़हा भर लेती हूँ
चौका-बरतन करती हूँ
झाड़ू देती हूँ
और तब ऊँघती सासके सूखे हाड़ोंको दाबती हूँ
उसकी बूढ़ी देह सहलाती हूँ।
धीरे-धीरे
आँगनमें पसरी धूप
दीवारोंपर होती हुई
छतको लाँघती हुई
नीमकी ऊँची फुनगियोंपर जा चढ़ती है
दूर लक्ष्मीनारायणके मन्दिरसे
घंटों—घड़ियालोंका रव उभर आता है
सास हड़बड़ाकर सुमरनी उठाती है
और मैं रसोईके घुटते धुएँमें
फिर रोटियाँ सेंकती हूँ
सासके लौटनेपर उसे खिलाती हूँ
फिर खुद अपने पेटके खाली गड़हेको भरती हूँ
इच्छा नहीं होते भी
उँघती सासके पैर दाबती हूँ

[फिर एक सर्द आह भरकर]

यों ही करते-कराते दिन तो बीत जाता है
दिन तो बीत जाता है

पर यह बैरिन रात क्योंकर बीते !
पर यह अभागिन रात क्योंकर बीते ! !
सत्तर हाथ गहरे कुएँ-सी अँधेरी यह रात
क्योंकर बीते ! ! !

[बोलते-बोलते वह सुबकने लगती है, उसकी हिचकियाँ बँध जाती हैं। आँखोंसे बहती धारको वह अपनी साड़ीके मैले आँचलसे पोंछती है, धार बहती जाती है और वह पोंछती जाती है, फिर उसे स्वयं पता नहीं लगता कि वह कब सो जाती है।

अचानक तरह-तरहकी आवाज़ोंसे रातकी खामोशी तार-तार हो उठती है। युवती चौंककर उठ बैठती है। पहले तो वह कुछ समझ नहीं पाती, क्योंकि अभी-अभी देखे सपनेकी मीठी याद उसकी आँखोंमें तैर रही है। फिर धीरे-धीरे उसे स्थितिका भान होता है। तब वह फिर लेट जाती है और हौले-हौले 'डरी हुई आवाज़में' बोलती है]

युवती : ये मंझ रातकी डरावनी आवाजें
और मेरा असहाय अकेलापन !
जाड़ोंकी इन ठिठुरी मंझ रातोंमें
दूर जब बारहका घड़ियाल बजता है
तो अचानक उसकी आवाज़में आवाज़ मिलाकर
सुदूर टीबोंके पार
बेरके कँटीले जंगलमें अकेला लेटा
जवान सियार ज़ोरसे
हुआँ-हुआँ पुकारता है।

जंगलके दूसरे कोनेमें लेटी
जवान सियारनी
उतनी ही तेज़ आवाज़ोंमें उसका उत्तर देती है
धीरे-धीरे ये आवाज़ें
निकट होती जाती हैं ।

मरघटकी गरम-गरम राखमें दुबका कुत्ता
थूथन ऊपर उठा
दर्दीली आवाज़में रो-रो उठता है ।

गाँवके किनारे गणेश-चौरेके पीपल तलेका मोर
बेल-बूटेदार पंख फैलाकर
पिऊ-पिऊ चीख़ता है ।

घरके पिछवाड़े ठाकुरोंके चौकमें
कूड़ेके ढेरपर ऊँघता गदहा
बुरी तरह लोट-पलोटकर
ढींचू-ढींचूका राग अलापता है ।

बगलके भुतहा मकानके आँगनमें
बरगदके पेड़की लम्बी जटाओंमें छिपी चील
पंख फड़फड़ाकर
घोंसलेसे दो-चार इंच ऊपर उठ
तीखी टिटकारी भरती है ।

मेरे आँगनमें खूँटेसे बँधी गाय
खुरदुरी जीभसे बछड़ेको चाटती रँभाने लगती है ।

नीचे कोठड़ीमें सोया देवर
साँझको जीते मैचकी याद कर
नींदमें ही बड़बड़ करता है····

[**कुछ रुककर**]

युवती : जाड़ेकी ठिठुरती मँझरातमें
आवाजोंका यह रेला
रेगिस्तानी हवाके छुरीसे तेज पंखोंपर सवार होकर
तीखे तीरोंकी बौछार-सा
मुझे छा लेता है
मैं भयसे काँपकर
चक्की पीसनेसे कड़ी हो आई अपनी हथेलियोंसे
कानोंको कसकर ढँक लेती हूँ
लेकिन ये आवाजें तब भी मुझे
उसी तरह सुनाई देती रहती हैं
शायद इनकी गूँज
मेरे भीतर कहीं गहरे तक समा चुकी है
मैं इस गूँजको बाहर निकालनेके लिए
जोर लगाकर
हथेलियाँ कानोंपरसे हटा लेती हूँ
लेकिन मुझे फिर सुनाई देती हैं
वही डरावनी आवाज़ें
गाँवकी ईट-ईट हिलातीं
बालूके टीबोंसे टकरातीं
चीखतीं
चिल्लातीं !

और मैं सिहरकर
घरके काम-धन्धोंसे कठोर हो आई
अपनी हथेलियोंसे
फिर अपने कानोंको कसकर ढाँप लेती हूँ
लेकिन क्या ये निष्ठुर आवाज़ें
तब भी मेरा पीछा छोड़ देती हैं ?

हाय, मँझरातकी ये डरावनी आवाज़ें
और मेरा असहाय अकेलापन !!

[**युवतीके दिलकी गहराइयोंसे एक ठंढी साँस निकलती है; वह करवट बदलती है और तकियेमें मुँह छिपाकर फिर सुबकने लगती है।**]

बात जो मनने कही, मनने सुनी

पात्र :

एक वृद्ध दादाजी

[शहरकी एक फैशनेबल सड़कपर खड़ी आधुनिक ढंगकी एक कोठी। कोठीके भीतरी हिस्सेमें पूजा करनेका एक कमरा है जिसकी चिकनी संगमरमरकी दीवारोंपर अनेक देवी-देवताओंके चित्र अंकित हैं और गीताके श्लोक लिखे हुए हैं। सामनेकी दीवारके पास कृष्णकी मूर्ति है जिसके सामने आसनपर पालथी मारे और शरीरपर केवल धोती पहने एक वृद्ध बैठे पूजा कर रहे हैं। पूजा-घरकी दोनों ओरकी दीवारोंमें दो-दो खिड़कियाँ हैं। अचानक दाहिनी ओरवाली दोनों खिड़कियोंमें-से खिल-खिलाकर हँसनेकी आवाज़ें आती हैं, वृद्ध पूजा रोककर उन खिड़कियोंकी ओर देखते हैं]

वृद्ध : [चिढ़ी हुई आवाज़में बड़बड़ाते हैं]
मैं इस ठाकुरबाड़ीकी तमाम खिड़कियाँ बन्द करवा दूँगा
इनमें ईंटे चिनवा कर
ऊपरसे सिमेंटका लेप करवा दूँगा
ताकि बाहरकी ये आवाज़ें मुझ तक न आ सकें।

अपने इष्टदेवकी सौम्य मुस्कुराहटमें मैं खो जाना चाहता हूँ
गीताके श्लोकोंमें डूब जाना चाहता हूँ
कि तभी ये आवाज़ें आकर
मेरे ध्यानकी शान्त सतहको आन्दोलित कर जाती हैं।

इसलिए कि ये आवाज़ें महज़ आवाज़ें ही नहीं होतीं

इनके साथ एक अपना पूरा संसार होता है
बेहयाई और बेशर्मीका संसार—
जो इन आवाज़ोंके काँपते पंखोंपर सवार होकर
इन खुली खिड़कियोंके रास्ते आकर
मेरे इस पवित्र आराधना-गृहको दूषित कर देता है
इसकी चिकनी संगमरमरी दीवारोंपर चित्रित
देवी-देवताओंके निष्पाप चेहरोंपर चिपक जाता है
श्लोकोंको धुँधला कर देता है
और गन्दे कीड़ों-मकोड़ोंकी तरह
इस धुले-मँजे फर्शपर रेंगने लगता है
कोनों-अतरोंमें मकड़ीके जाले बुन देता है।
मेरे और मेरे आराध्य-देवके बीच
एक अवांछित दीवार खड़ी कर देता है।
ना-ना
मैं आज ज़रूर इन खिड़कियोंको बन्द करवा दूँगा
इनमें ईंटे चिनवा दूँगा
और ऊपरसे सिमेंटका लेप करवा दूँगा
ताकि ये आवाज़ें मेरे ध्यानकी शान्त सतहको आन्दोलित न करें।

उफ्, ये आवाज़ें
ये अकेली नहीं आतीं
अपने साथ एक पूरा संसार लाती हैं।

[इस बार हँसीके साथ-साथ महिला और पुरुष कंठोंकी ज़ोरसे बोलनेकी मिली-जुली आवाज़ें भी आती हैं, गोया वे किसी बातको लेकर झगड़ रहे हों]

वृद्ध : ये आवाज़ें मेरे जवान बेटों और जवान बहुओं और जवान बेटियोंकी हैं
परायी औरतों और पराये मर्दोंकी हैं
ये सब एक साथ मिलकर
बीचके बड़े गोल कमरेमें बैठे
ताशका वह खेल खेल रहे हैं
जिसे ये सब 'ब्रिज' कहते हैं।

ये आवाज़ें मेरी जवान बेटियों और जवान बहुओंके खिल-खिलाकर हँसनेकी हैं
उनके ज़ोर-ज़ोरसे बोलनेकी हैं
लड़ने-झगड़ने और फिर सुलहके बाद हँसने–खिलखिलानेकी हैं।

जब ये आवाज़ें आती हैं तो अकेली नहीं आतीं
इनके साथ एक पूरा संसार आता है—
मेरी बहुओंका और मेरी बेटियोंका
पराये मरदोंका और परायी औरतोंका !

[**आँखें बन्द कर लेते हैं, हालाँकि चेहरा अब भी उन खुली खिड़कियोंकी ओर ही रहता है**]

वृद्ध : उनके सिर उघड़े हैं
उनके बाल अजीब-अजीब तरहसे बने हैं
उनकी बाहें कंधों तक नंगी हैं
उनकी कमर नंगी है
उनके सीनेके ऊपरका सारा हिस्सा नंगा है
और नायलोनकी झीनी साड़ियोंके भीतरसे
उनके समूचे ज़िस्मका नंगापन झाँकता है....

बाजारू औरतोंकी तरह
अपने दाँत निकालकर खिलखिल हँसती हैं....
गोल कमरेमें बैठी
ताशका वह खेल खेलती हैं
जिसे ये 'ब्रिज' कहते हैं....
परायी औरतों और पराये मरदोंके साथ
पीछेके मैदानमें फुदक-फुदककर
बेशर्मीसे बैडमिन्टनकी चिड़िया उछालती हैं....
होटलोंमें बैठकर छुरियों और चम्मचोंसे खाती हैं....
अँधेरे सिनेमा-घरोंमें घंटों बैठी रहती हैं....
स्टेज़पर वेश्याओं की तरह नाचती और गाती है....
और ये सब नंगी आवाज़ें
इन खुली खिड़कियोंके रास्ते भीतर आकर
मेरे आराधना-गृहकी पवित्र हवाको गंदा कर देती हैं ।

मैं आज ज़रूर इन खिड़कियोंको बन्द करवा दूँगा
इनमें ईटें चिनवा दूँगा
और ऊपरसे सिमेंटका लेप करवा दूँगा
ताकि ये गन्दी आवाज़ें भीतर न आ सकें ।

[हाथ जोड़कर मूर्तिके आगे माथा टेकते हैं]
मेरे प्रभु ! मुझे इस नंगे युगकी नंगी आवाज़ोंसे बचा !
[फिर सीधे बैठ जाते हैं और बग़लमें रखी गीता उठाकर उसके पहले पृष्ठसे पढ़ना शुरू करते हैं]

वृद्ध : धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकु....

[अचानक ध्यान उचट जाता है, और चौंककर मूर्तिकी ओर देखते हैं]

मेरे आराध्य ! अचानक तुम्हारी मुस्कानमें यह वक्रता क्यों ?

आँखोंमें व्यंगकी यह चमक किसलिए ?
मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा, मेरे इष्ट ?
मैं यह क्या देख रहा हूँ ?

[आश्चर्यसे गर्दन आगे बढ़ाकर]

तुम्हारी इस कुटिल मुस्कान
और आँखोंकी इस व्यंगभरी चमकमें
मैं यह क्या देख रहा हूँ, मेरे प्रभु ?
अतीतकी मुर्दा घाटियोंमें दबा
क्या यह मेरा ही किशोर रूप है
जो तुम्हारी आँखोंकी चमकमें
और होठोंकी मुस्कानमें
झाँक रहा है ?
क्या सचमुच यह मैं ही हूँ ?

[एकदम घबराकर]

ना-ना, मेरी आँखोंका भ्रम होगा !
भला यह मैं कैसे हो सकता हूँ
जो आँखोंमें जाने कैसी एक लालसा लिये
अपनी छिपी-छिपी किशोर नज़रोंसे देख रहा है
नलपर पानी भरती मोहल्लेकी औरतोंके हिलते घूँघटोंको !

[और अधिक घबराकर]

ज़रूर मेरी आँखोंका भ्रम होगा

भला यह मैं कैसे हो सकता हूँ
जो धक-धक करते अपने जवान होते हृदयसे
दरवाज़ेकी फ़ाँकसे चुप-चुप देखता है
भीतर नहाती अपनी ही जवान भाभीको !····

[घबराहटके कारण आवाज़ लड़खड़ाती-सी निकलती है]

मेरी आँखोंको यह क्या हो गया है, प्रभु ?
ये कैसी अजीब-अजीब बातें मुझे दिखाई दे रही हैं ?
यह ज़रूर मेरी बूढ़ी आँखोंका भ्रम होगा
भला यह मैं कैसे हो सकता हूँ
जो पोलीके अँधेरेमें अपने ही चाचाकी लड़कीको
पीछेसे चुप-चुप पकड़ लेता है
और अपनी जवान बाँहोंके घेरेमें
इतनी ज़ोरसे भींचता है
इतनी ज़ोरसे
गोया
उसकी किशोर हड्डियोंको पीस डालेगा
और जब वह चीख़ उठती है
तो डरकर भाग जाता है !····

[घबराकर खड़े हो जाते हैं और काँपते हाथोंसे मूर्तिके पैर पकड़ लेते हैं]

वृद्ध : ना-ना, मेरे प्रभु !
यह सब झूठ है
मुझे कुछ याद नहीं आता
ज़रूर यह मेरी बूढ़ी आँखोंका भ्रम है !
मैं तो····

मैं तो····
मुझे यह सब कुछ याद नहीं, मेरे आराध्य !
ज़रूर यह इसी नंगे युगकी नंगी आवाज़ोंका असर है।

[अब वे अपनी घबराहटपर बहुत-कुछ नियंत्रण कर चुके हैं। उनके स्वरकी कँपकँपाहट भी बहुत-कुछ दूर हो चुकी है]

वृद्ध : मैं आज ज़रूर इन खिड़कियोंको बन्द करवा दूँगा
इनमें ईंटें चिनवा दूँगा
और ऊपरसे सिमेंटका लेप करवा दूँगा
ताकि ये आवाजें फिर भीतर न आ सकें।

[वृद्ध उठकर जल्दी-जल्दी चारों खिड़कियोंको बन्द करते हैं। फिर वापस आसनपर बैठ जाते हैं और आँखें बन्द-कर जल्दी-जल्दी माला फेरने लगते हैं।]

रेखाचित्र

प्रो० करुणायतन
रसिकजी

प्रो० करुणायतन

गोल बाज़ारके दक्षिणी नुक्कड़पर 'राधा सिनेमा'के दाहिने बाजू अपने चार पायोंपर खड़ी लोटन महाराजकी वह टीनकी छोटी-सी दूकान रानापुर-में काफ़ी मशहूर थी। खासकर गर्मियोंकी शामको तो वहाँ अच्छी-खासी रौनक रहती। लोग दो-दो चार-चारके टोलमें मटरगश्ती करते हुए आते, लोटनके ज़ायकेदार पान चबाते, राधा सिनेमासे आनेवाले गानोंका कुछ देर खड़े-खड़े रस लेते, इधर-उधरकी हाँकते और आख़िर हाँकते हुए ही चले जाते।

'करुण जी'को मैंने पहली बार यहीं देखा।

हुआ ऐसा कि केशोके दिलचस्प लटके सुनती हुई हमारी मण्डली रोज-की तरह उस शाम भी लोटनकी दूकानपर ही रुकी। केशोने ख़ास तौरसे तैयार दो खिल्ली बंगला बाँयें गालमें दबाये, एक बीड़ीकी तमाखूमें थोड़ा चूना मिलाकर अंगूठेसे खूब मला और मुँह ऊँचा करके फाँक गया। फिर इतमीनानसे बोलना शुरू किया, "हाँ तो मैं कह रहा था कि...."

कि तभी अचानक रुककर उसने सड़ककी ओर देखा, दाहिना हाथ ऊँचा उठाया और ज़ोरसे हाँक लगाई, "नमस्ते, सर !"

हम पलटे। देखा, सड़कके ठीक बीचमें सीटपर ही बैठे, ज़मीनसे पैर लगाकर साइकिल रोके, एक महाशय खड़े थे और दूसरे आगे डंडेपर डटे हुए थे।

"आइए, सर, एक खिल्ली खाते जाइए", केशोने फिर हाँक लगाई और लोटनकी ओर मुड़कर बोला, "उस्ताद, दो मीठे, ज़रा फुर्तीसे !"

'सर'ने डंडेपरसे ही जवाब दिया, "नहीं भाई केशवप्रसादजी, इस समय तो मैं ताम्बूल सेवन नहीं करूँगा। मुझे शीघ्र ही बालिका-विद्यालय पहुँचना है।"

"बस हो ही गया, सर ! यह लीजिए।" और केशो पान लेकर उनकी ओर बढ़ा।

अब 'सर' डंडेसे उतरे। पायजामे जैसी चौड़े घेरकी और कमरके पास काफ़ी ढीली उनकी पतलून नीचे खिसक रही थी, उसे दोनों हाथोंसे ऊँचा किया, पान मुँहमें रखा और कच-कच चबाते हुए बोले, "बात यह है केशवप्रसादजी, कि मुझे अभी विद्यालयके वार्षिकोत्सवमें भाषण देना है। आज मैं 'कामायनी'के उस प्रसंगपर बोलूँगा जब श्रद्धा अपने धूल-धूसरित पुत्रको आता देखकर....."

केशो घबड़ाया कि इनका भाषण तो यहीं शुरू होने लगा है। तुरन्त बीचमें टोककर बोला, "सर, विद्यालयमे आपका भाषण कितने बजे होने-वाला है?"

"अरे हाँ भाई, आपने ख़ूब स्मरण दिला दिया। अच्छा, अभी तो चलता हूँ....इस प्रसंगपर मैं आपको फिर बतलाऊँगा।" और उन्होंने खिसकते पैंटको फिर एक बार ऊँचा खींचा, उचककर डंडेपर बैठे और साइकिल चल दी।

बड़ी उत्सुकतासे हमलोग सब कुछ देख-सुन रहे थे। अब मैंने पूछा, "यह जोकर कौन था यार?"

पानकी पीकको मुँह ऊँचाकर गिरनेसे बचाते हुए केशो हँसा, बोला, "चलो, चार नाम तो इनके पहलेसे थे ही, अब एक और जुड़ गया।"

"चार नाम?" मुझे विश्वास नहीं हुआ।

"हाँ चार; कालेजके रजिस्टरमें प्रोफेसर करुणायतन दर्ज है। स्थानीय पत्र-पत्रिकाओंमें 'करुणजी'के नामसे छपते हैं। लेकिन इनके प्रिय छात्रोंको शायद ये दोनों ही नाम पसन्द नहीं, उन्होंने इनका नाम 'कामायनी-प्रूफ़' रख छोड़ा है।" केशो फिर एक बार मुँह ऊँचा करके हँसा, "गोल बाज़ार-के पश्चिमी नुक्कड़पर अक्सर एक आदमी चिल्ला-चिल्लाकर दो आनेकी

पुड़ियामें हर मर्ज़की दवा बेचा करता है न ? इनके लिए हर मर्ज़की एक-मात्र दवा 'कामायनी' है ।"

"तो क्या ये प्रोफ़ेसर हैं ?" मैं जैसे आश्चर्यमें डूबा अपने-आपसे ही पूछ रहा होऊँ ।

"हाँ ।"

"ये और प्रोफ़ेसर ! यह बासी ककड़ी-सा पिचका चेचकरू चेहरा, मरी मक्खी-सी बटरफ्लाई मूँछें, पायजामे जैसा चौड़े घेरका बार-बार नीचे खिसकता पैंट, साँसोंके साथ आगे-पीछे सरकती सूखी-सिमटी काया, मानो बिहारीकी विरहिणी नायिका फिरसे पुरुष-वेशमें पदा हो गयी हो । और साइकिलके डंडेपर इनका यह अजीबोग़रीब सफ़र ! भई केशो, तुम्हारे ये प्रोफ़ेसर तो बड़े अजीब-से हैं !" मैं एक ही साँसमें कह गया ।

"अजीब !" केशोने पिचसे पीक थूककर कहा । "अजो, जायका हैं ! वण्डरफुल जायका !!" यह शायद उनका चौथा नाम था ।

"जायका ! क्या मतलब ?" कुछ भी न समझकर उत्सुकतासे मैंने पूछा ।

"अब अगली साल तो कालेजमें आ ही रहे हो । ख़ुद ही देख लेना ।"

मेरी उत्सुकता बनी ही रही । काफ़ी मिन्नत-ख़ुशामद करनेपर भी उस भले आदमीने नहीं ही बतलाया ।

× × ×

कालेजमें वह मेरा पहला ही दिन था । चौकमें पीपलके चबूतरेपर पैर नीचे लटकाये केशो तथा कुछ दूसरे छात्रोंके साथ मैं बैठा था । कभी किसी लड़कीको पाससे गुज़रती देखकर यार लोग एक-आध आवाज़ कस देते, कभी बांगड़ू से दिखते किसी छात्रको निकट बुलाकर बेवकूफ़ बनाते ।

अचानक मेरी निगाह 'करुणजी'पर पड़ी। स्टाफ रूमके चबूतरेपर पैर टिकाकर उन्होंने साइकिल रोकी। उतरे।

मैंने केशोसे कहा, "अरे केशो, देख, तुम्हारे करुणजी खुद साइकिल चलाकर लाये हैं!"

"हाँ, शहीद होनेके लिए इन्होंने खुद चलाना सीख लिया है।" फिर सामनेसे एक लड़कीको गुज़रती देखकर केशोने आवाज़ ऊँची की, "अपनी उस 'कामायनी' को तो विधवा करेंगे ही, साथ ही किसी ट्रक लारीवालेको भी बड़े घर भिजवाकर छोड़ेंगे, ये करुणायतन जी!"

तभी घण्टेकी आवाज़ सुनकर पाँच-पाँच, सात-सातके टोलमें छितरे छात्र क्लास रूमोंकी ओर बढ़ने लगे। अबतक कामन-रूमोंसे ताक-झाँक करती लड़कियाँ भी निकल-निकलकर गजगामिनी चालसे चलीं।

संयोगसे 'फर्स्ट ईयर' का पहला पीरियड प्रो० करुणायतनका ही था। उन्होंने आते ही हाजिरी ली और बोलना शुरू किया, "आज हमारा प्रथम दिवस है। अस्तु, अध्ययनका श्रीगणेश हम लोग कलसे करेंगे। आज मैं आप लोगोंको कुछ ऐसी बातें बताऊँगा जो आपके भावी अध्ययनमें बहुत सहायक सिद्ध होंगी।"

कोई महत्त्वपूर्ण बात सुननेकी आशामें सब शान्त बैठे थे। और वे बिना साँस लिये बोले जा रहे थे, "आप लोगोंको यह तो ज्ञात होगा ही कि 'काव्यधारा' आप लोगोंकी पाठ्य-पुस्तिका है। कदाचित् यह भी ज्ञात हो कि उसपर लिखे हुए मेरे नोट्स पिछली साल छप चुके हैं।....बहुत उपयोगी नोट्स हैं।"

सहसा पीछेकी बेंचसे छींककी आवाज़ आई।

लेकिन करुणायतनजी अपनी झोंकमें बोले जा रहे थे, "अस्तु, आप सबको चाहिए कि उसकी एक-एक प्रति अवश्य ख़रीद लें।"

एक साथ तड़ातड़ तीन-चार छींकोंकी आवाज़ें आयीं। फिर सबसे आख़िरी बेंचसे एकने बैठे ही बैठे पूछा, "सर, स्कूलमें तो हमारे मास्टर

लोग आराममे कुर्सियोंपर बैठकर मेजोंपर टाँगें फैला देते थे, लेकिन आपको तो यहाँ खड़े-खड़े बोलना पड़ता है। बड़ी तकलीफ़ होती होगी ! आप भी बैठनेका इन्तज़ाम करवा लीजिए न, सर।''

''नहीं भई, कालेजोंमें खड़े होकर व्याख्यान देनेकी परम्परा है।···· हाँ तो मैं कह रहा था कि····''

कि उसी बेंचसे फिर आवाज़ आई, ''सर, आप इतनी ढीली पतलून क्यों पहनते हैं ?''

समूची क्लासमें दबी हँसीकी आवाज़ें तैर गयीं। अगली बेंचोंपर बैठी लड़कियाँ भी साड़ीका पल्ला या दुपट्टेका कोना मुँहमें दबाये, गर्दन झुकाये हँस रही थीं।

और तब प्रो० करुणायतनको ख़याल आया। उन्होंने झट नीचे खिसकी पतलून दोनों हाथोंसे ऊँची की। फिर ऐसे बोले मानो अपने-आपसे ही पूछ रहे हों, ''मैं क्या कह रहा था···· ?''

''सर, आप कह रहे थे कि प्रसादजीकी 'कामायनी' विश्वकी सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है'', पीछेकी बेंचसे एकने उत्तर दिया।

करुणायतनजीको जैसे अपना खास विषय मिल गया। भावुकतासे भरी-भीगी आवाज़में बोले, ''हाँ, कामायनी अनुपम है ! उसकी महत्तापर मैं अपने आगामी व्याख्यानोंमें विस्तारसे बोलूँगा। लेकिन आप मेरे नोट्स····''

कि भौं-भौंकी आवाज़ आई।

प्रो० करुणायतनने अपनी बात बीचमें छोड़कर पूछा, ''यह किसकी आवाज़ थी ?''

''सर कुत्ता था, मैंने बाहर खँदेड़ दिया।'' उसी आख़िरी बेंचसे एकने कहा। फिर एक साथ कई कण्ठोंसे 'दुर-दुर' की आवाज़ें आईं। इसके बाद वही दबी हँसी।

इतनी देर याद करते-करते आख़िर प्रोफ़ेसर साहबको याद आ गया कि वे क्या कह रहे थे। एकदम बोले, ''हाँ, मैं कह रहा था कि आप

लोगोंके कोर्समें कामायनीका थोड़ा-सा ही अंश है, लेकिन उसकी महत्ताको देखते हुए मैं आपसे यही कहूँगा कि उसे पूरा ही पढ़ लें। साथ ही आप लोग स्थानीय 'ज्योति' साप्ताहिकमें कामायनीके काव्य-सौन्दर्यपर निकले हुए मेरे लेख...."

बीचमें टोककर एक लड़केने पूछा, "सर, देखिए न, आपकी नाकके ठीक नीचे एक कम्बख्त मक्खी कबसे चिपकी बैठी है, उड़ती ही नहीं!"

अब तो रुका हुआ बाँध जैसे एक दम टूट पड़ा। खुलकर ठहाके लगे। हा—हा—हू हू और तरह-तरहके जानवरोंकी बोलियोंसे क्लासरूम जैसे गाँवका रामलीला-ग्राउण्ड बन गया।

बेचारे करुणायतनजी नाकके नीचेकी मक्खी यानी बटरफ्लाई मूँछको अंगुलीकी पोरसे सहलाते हुए विमूढ़-से खड़े थे।

तभी दूसरा घण्टा बजा। प्रो० करुणायतनने फुर्तीसे रजिस्टर काँखमें दबाया, खिसकती पतलूनको ऊँचा खींचा और बाहर निकल गये।

इसके करीब हफ्ते भर बाद ही एक दिन सुना कि आखिर वे शहीद हो ही गये, यानी कालेज आते समय अपनी चहेती साइकिलको लिये-दिये एक रिक्शेवालेपर चढ़ बैठे और अब सदर अस्पतालकी खाटपर आराम फरमा रहे हैं।

अस्तु, जब छः दिन बाद रजिस्टर कांखमें दबाये, 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' गुनगुनाते, चलते-चलते ही बार-बार पतलूनको ऊँचा खींचते, प्रो० करुणायतन आते दिखाई दिये, तो एकाएक क्लासमें मुक़म्मल खामोशी छा गई।

हाजिरीका पहला नाम उन्होंने पुकारा ही था कि आवाज़ आई, "सर, सुना, आपकी साइकिल एक रिक्शेवालेसे लड़ गई थी?"

करुणासे गीले स्वरमें उत्तर मिला, "हाँ भई, इस बार तो बस 'उन्होंने' ही मुझे बचा लिया।"

"उन्होंने?" एक साथ कइयोंने दुहराया।

लेकिन प्रोफेसर साहबने जैसे सुना ही नहीं। अपनी धुनमें कहते गये, "अब तक मैं उन्हें केवल श्रेय समझता था, लेकिन इस आकस्मिक संकटने मुझे एक नई अनुभूति दी : वे मात्र पेय ही नहीं, श्रेय भी हैं। जिस लगनसे उन्होंने मेरी सेवा की...."

जैसे एकाएक उन्हें याद आया। बीचमें रुककर पूछ बैठे, "आप लोगोंने अब तक कामायनी तो जरूर पढ़ ली होगी ? स्मरण कीजिए वह प्रसंग : संघर्षके बाद मनु बेहोश पड़े हैं। 'मैं हृदयकी बात रे मन !' गाती श्रद्धा उन्हें खोजती हुई आती है, और अपनी सेवाके बलपर मनुको बचा लेती है। सच, उनकी सेवाको देखकर मुझे बार-बार इस प्रसंगका स्मरण आ रहा था।"

अब तक हम लोग समझ गये थे कि 'उनसे' उनका क्या तात्पर्य है।

भाषण बदस्तूर जारी था, "मेरे जीवन और कृतित्वके दो ही प्रमुख आधार-स्तम्भ रहे हैं। एक प्रसादजीकी 'कामायनी' और दूसरी मेरी अपनी 'कामायनी'।"

यहाँ वे क्षणभर रुके। पतलूनकी फूली हुई जेबसे उन्होंने एक डायरी निकाली और जल्दी-जल्दी उसके पन्ने पलटने लगे। आख़िर एक स्थानपर अंगुली लगाकर उन्होंने नजरें हमारी ओर उठाईं। अपनी 'कामायनी' की अभूतपूर्व सेवासे प्रेरित होकर बिल्कुल हालकी लिखी अपनी एक कविताकी तारीफ़में उन्होंने अपने कथनानुसार सिर्फ़ दो शब्द [जो दरअसल घड़ी देखकर पूरे दस मिनटमें जाकर ख़त्म हुए] कहे, हौलेसे खंखारा और लगे ऊँची आवाज़में रेंकने, "मेरी प्राण ! मेरी प्राण !"

और मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया कि आज इनकी 'कामायनी' को जरूर देखना है।

चार बजे स्टाफ-रूमसे उन्हें निकलते देखकर हम लपके। केदारने

नमस्ते ठोंकी। कहा, "सर, कामायनीके काव्य-सौन्दर्यपर आपके जो लेख 'ज्योति' में छपे थे, उनकी एक-एक प्रति आपके पास ज़रूर होगी; उन्हें, सर, पढ़नेकी····"

"हाँ, हाँ, अवश्य पढ़िए, अवश्य! मैं कल लेता आऊँगा।" काफ़ी ख़ुश होकर उन्होंने कहा।

"लेकिन सर, आज ही पढ़नेकी इच्छा थी। ऐसा करें, हम लोग उसी ओर जा रहे है। रास्तेमें आपको छोड़ देंगे और वे लेख भी ले लेंगे।"

वे बिना कुछ बोले तुरन्त साइकिलके डण्डेपर उचककर बैठ गये।

कस्बेकी बाहरी सड़कपर एक मामूलीसे मकानमें नीचेके दो कमरे उन्होंने ले रखे थे। हमने साइकिलें बाहर खड़ी कीं और पहलेवाले कमरेमें पहुँचे तो एक पल ठगेसे खड़े देखते रहे। उड़े हुए रंगकी एक कुर्सी, एक मेज जिसपर किताबोंका अस्त-व्यस्त ढेर, एक मूँजकी खाट जिसपर जगह-जगह पेशाबके छोटे-बड़े धब्बोंसे अलंकृत सिमटी-सिकुड़ी दरी, खाटके नीचे बच्चोंके कुछ मैले कपड़े, एक-आध गन्दी धोती-साड़ी, इधर-उधर लुढ़के हुए दो-चार जूठे गिलास-कटोरी, और दीवारमें खूँटियोंपर टँगे हुए अधमैले लहँगे, ब्लाउज, पैंट और बुशशर्टोंका बेतरतीब ढेर।

यही प्रो० करुणायतनका अध्ययन-कक्ष था।

एक मिनट तो हम दोनों असमंजसमें खड़े देखते रहे। फिर किसी तरह जी कड़ा करके खाटकी पेशाब-चर्चित दरीपर ही बैठ गये। प्रोफ़ेसर साहब मेज़के अस्त-व्यस्त ढेरको उलट-पलट रहे थे।

तभी बीचवाले पर्देके उस पारसे महिला कंठकी आवाज़ आई, "अरी मुन्नी, शायद तेरे बाबूजी आ गये! जाकर पूछ, कोयला लाये हैं कि नहीं?"

हमारे कान झट खड़े हो गये।

आवाज़ प्रोफ़ेसर साहबने भी सुन ली थी। वे तुरन्त परदेको सावधानीसे थोड़ा हटाकर उधर चले गये। पर्दा फिर पूर्ववत् ठीक कर दिया।

हम चाहने और कोशिश करनेपर भी पर्देके उस पार नहीं देख सके, लेकिन उधरकी आवाज़ बख़ूबी सुन सकते थे।

"मुन्नीकी माँ", प्रोफ़ेसर साहब धीमी आवाज़में कह रहे थे, "मेरे कालेजके दो छात्र आये हैं, ज़रा जल्दीसे तीन कप चाय तो बना दो।"

"जल्दीसे चाय तो बना दो!" यह उनकी 'कामायनी' की तीखी आवाज़ थी, "अब चाय बनाऊँ या इन मरकहोंके लिए खाना? कबसे रो-रोकर मेरी जान खाये जा रहे हैं?"

"अरी तो धीरे बोल! वे लोग बाहर बैठे हुए हैं!" आवाज़में खुशामद थी।

"बैठे हैं तो मैं क्या करूँ? कोई ढोल तो पीट नहीं रही हूँ।" इस बार आवाज़ और तेज़ थी।

करुणायतनजी चुपचाप इधर खिसक आये। आते समय बीचका पर्दा कुछ हट गया था। उसे सावधानीसे फिर ठीक कर दिया।

हमारे कान तो उनकी तीखी आवाज़से तृप्त हो चुके थे, लेकिन आँखें अब भी प्यासी थीं।

इधर आते ही वे फिर किताबोंके ढेरसे उलझ गये। साथ ही बोलते भी जा रहे थे, "पता नहीं कहाँ रख दिये? बड़े अच्छे लेख थे। आप चिन्तित न हों, मैं अभी ढूँढ़ निकालता हूँ।"

हम गुम-सुम बैठे थे।

पर्देके पीछेसे फिर तीखी आवाज़ आई, "मुन्नी, जा कह दे, चीनी थोड़ी-सी ही है। तीन कप नहीं बननेके।"

प्रो० करुणायतन फौरन पर्देके पीछे लपके।

इस बार जल्दीमें वे पर्दा ठीक करना भूल गये। हमने देखा, लोहेकी सिगड़ीपर बटलोईमें शायद चाय उबल रही थी। पासमें एक स्थूल-सी

साँवली महिला टाँगें फैलाये बैठी परातमें आँटा गूँध रही थी। काली बेडौल टाँगें घुटनों तक उघड़ी थीं। सिरपर रूखे बालोंकी लटें थीं। दोनों कन्धोंको दो मरियलसे मुन्ना मुन्नी झकझोर रहे थे। एक ओर सात-आठ महीनेकी एक बच्ची पेशाबमें लेटी टाँगें पीट रही थी। कमरेमें चारों ओर जूठे बर्तन और गन्दे कपड़े बिखरे पड़े थे।

हम दोनोंकी आँखें एक बार उधरसे हटीं और आपसमें मिलीं।

जब हमने फिर उधर देखा तो प्रोफ़ेसर साहब पास बैठे, दोनों हाथ जोड़े, अपनी 'कामायनी' को मना रहे थे, "मेरी अच्छी देवीजी, जो कुछ कहना-सुनना हो, इनके जानेके बाद कह लेना।"

देवीजी उसी तरह मुँह फुलाये घप-घप आटा गूँधे जा रही थीं।

विनोद और उपहासकी जिस भावनाको लेकर हम लोग आये थे, उसकी जगह अब अफ़सोस और करुणा थे।

प्रोफ़ेसर साहबके इधर वापस आते ही हम दोनों खड़े हो गये। मैंने बिदा लेते हुए कहा, "सर, आज रहने दीजिए। वे लेख आप कल खोजकर ले आइएगा।"

"अरे, चाय तो पीते जाइए!" हमें हाथसे बैठाते हुए उन्होंने कहा।

"नहीं सर, आज नहीं, फिर कभी पी लेंगे।" और हम तुरन्त बाहर निकल आये।

भीतरसे दोनों बच्चोंके ज़ोर-ज़ोरसे रोनेकी आवाज़ आ रही थी। शायद श्रीमतीजीने पीटा था।

रसिकजी

उनका असली नाम तो कम ही लोग जानते थे, लेकिन रसिकजीके नामसे क़स्बेका शायद ही कोई काव्य-रसिक अपरिचित हो।

भारी-भरकम डील-डौल, भैंसके चमड़े-सी कड़ी और मोटी गर्दन, चकले-से सरपर छोटे-छोटे बाल जो अब कुछ-कुछ श्वेत हो चले थे, खादीका चूड़ीदार पायजामा और घुटनों तक लम्बा ढीला-ढाला कुरता पहने, वे जमालपुर क़स्बे और आस-पासके गाँवोंमें होनेवाले किसी भी मुशायरेकी सबसे आगेवाली पंक्तिमें देखे जा सकते थे।

वैसे उन्होंने ख़ुद कभी कोई शेर नहीं सुनाया, पर थे वे मुशायरोंकी जान! क़स्बेके किसी भी कोनेमें मुशायरा जुड़े, उन्हें ज़रूर ख़बर दी जाती। अगर किसी कारणवश संयोजकगण उनके पास सूचना भिजवानेमें चूक भी जाते, तो भी किसी-न-किसी तरह उनको सुराग लग ही जाता और वे मौक़ेपर पहुँचनेसे नहीं चूकते। सच तो यह है कि उनके बिना कोई मुशायरा जम ही नहीं पाता था।

यह बात भी नहीं कि अपनी इस ख़ूबीका उन्हे एहसास न हो। बाज़ारके नुक्कड़वाली चाय-दूकानमें जब कभी दो-चार यार-दोस्तोंसे भेंट हो जाती, तो मुशायरोंकी चर्चा छिड़ जाना अनिवार्य था और तब वे अक्सर अपनी भारी आवाज़में कहते हुए सुने जाते—"अरे भाई, अब कहाँ रहा वह बादशाही ज़माना और वे फड़कते दिलकश मुशायरे!"

और इसके बाद गिलासकी गर्म चायसे उठती भाफकी ओर वे कुछ ऐसी डूबी-डूबी निगाहोंसे अपलक ताकते रहते जैसे सचमुच वह बादशाही ज़माना उन्होंने देखा है और अब उसकी कसकभरी तसवीर उनकी आँखोंके आगे घूम रही है। थोड़ी देरकी ख़ामोशीके बाद एक ठंडी लम्बी साँस

भरकर कुछ ऐसी खोयी-खोयी आवाज़में बोलते गोया अपने-आपसे ही कह रहे हों : "दरबार लगा है। बीचमें झकझक करते गद्देपर गावतकियेके सहारे अधलेटेसे बादशाह सलामत हुक्केकी निगाली गुड़गुड़ा रहे हैं। चारों ओर गद्देदार चौकियोंपर अखाड़ेमें खम ठोंककर उतरनेवाले पहलवानोंकी तरह जनाब शायर डटे हुए हैं।''''वह जोशोखरोश, वे दांव-पेंच, वे कलाबाजियाँ, जैसे एक-दूसरेको पछाड़नेकी होड़ लगी है। और हुजूरेआला हैं कि गावतकियेके सहारे उठंग-उठंगकर, इन रण-बाँकुरे योद्धाओंको जोश दिला रहे हैं।....क्यों न हो, आखिर सच्चे कद्रदाँ जो थे !"

रसिकजीके यहाँ पहुँचते तक गिलासकी चाय ठंडी पड़ चुकी होती, उसमेंसे उठनेवाली भाफ बन्द हो चुकी होती, और तब रसिकजी जैसे होशमें आते। समूची ठंडी चाय एक घूँटमे निगल जाते, ख़ाली गिलास ज़ोरकी आवाज़के साथ रखते और अपनी मोटी भारी हथेलियोंका दबाव उस पुरानी मरियल मेज़पर देकर उठते हुए, आवाज़में न जाने कैसी तलखी भरकर, कहते—"और आज''''आज इन मुशायरोंके सभापति बनते हैं ऐसे गोबर-गणेश जो मिट्टीके लोदोंकी तरह मसनदपर जाकर बैठ जाते हैं। आख़िर शायरोंमें अपनी क़ाबिलियत दिखानेका जोश आये, तो कहाँसे ?"

इतना कहकर रसिकजी बिना दोस्तोंके मुसकराते चेहरोंकी ओर एक बार भी देखे, चायवालेकी चीकटजमी पेटीपर इकन्नी डालते और छोटे-से दरवाज़ेमें झुककर, बिना पीछे देखे, एकदम बाहर निकल जाते।

मुशायरोंके बीचमें भी रसिकजी जहाँ एक ओर शायरीमें पूरा रस लेते वहाँ दूसरी ओर अपने अगल-बगल बैठे किसी दोस्तके कानमें यह कहनेसे भी कभी नहीं चूकते, "देखो तो उस सभापतिके बच्चेको ! कैसा गुमसुम बैठा है ! एकदम मिट्टीका माधो, जैसे जान ही न हो। अरे, शायरोंके कद्रदाँ नवाब और बादशाह अब कहाँ रहे ?" शायद वे आगे और भी कुछ बोलते लेकिन दोस्तको अपनी बातपर ध्यान न देते देखकर वे मुँह बिचकाते और चुप हो जाते।

लेकिन एक दिन अचानक एक ऐसी घटना घट गई कि जनाब रसिकजीमें बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया और उसके बाद उन्होंने मुशायरोंकी चर्चा करना ही एकदम छोड़ दिया ।

हुआ ऐसा कि उस दिन स्थानीय मिडिल स्कूलमें वार्षिकोत्सवके अवसरपर मुशायरेका भी आयोजन था । स्कूलका हॉल ठसाठस भरा था । रसिकजी अपनी मित्र-मण्डलीके साथ बदस्तूर आगेकी कतारमें डटे हुए थे । श्रोताओंमें धीमी आवाज़में कानाफूसी चल रही थी ।

आख़िर मंचपर घुटने मोड़कर बैठे हुए दुबले-पतले शायर 'लखनवी'ने अपनी काली शेरवानीके बटनोंपर ऊपरसे नीचे तक एक बार हाथ फेरा, हौलेसे खँखारा और फिर बारीक़ गूँजती आवाज़में अपनी नज़्मकी पहली पंक्ति पढ़ी—

"मदभरी साँवली रातोंके रसीले सपने"

और फिर हाथके काग़ज़परसे नज़रें हटाकर सामने बैठे रसिकजीकी ओर देखा ।

"वल्लाह !"····बीनकी मोहक स्वरलहरीपर मस्त हो फण हिलाते नागकी तरह सुध-बुध भूलकर रसिकजी झूम उठे । अपने माँसल हाथकी मोटी उँगलियोंको थोड़ा आगे फैलाकर, भारी गलेकी खरखराती आवाज़में उन्होंने दुहराया—

"मदभरी साँवली रातोंके रसीले सपने"

और 'लखनवी' दुगुने उत्साहसे भर उठे । हॉलकी फ़िज़ामें अपूर्व तल्लीनता, एक अज़ब जादूभरी मदहोशीका आलम छा गया । श्रोता मुग्ध थे ।

नज़्म ख़त्म होनेपर कुछ देर हॉल तालियोंकी गड़गड़ाहटसे गूँजता रहा ।

अकस्मात् सभापति महोदयने अपने सामने रखी गांधी टोपी उठाकर

सरपर रखी और खड़े होकर, एक आवश्यक कार्यका हवाला देते हुए, चले गये ।

अब प्रश्न था सभापतिके रिक्त स्थानकी पूर्तिका । प्रबन्धकर्ताकी निगाहें कुछ देर, कभी मंचपर और कभी सामने बैठे श्रोताओंकी भीड़पर, घूमती रहीं और आख़िर सबसे आगे बैठे रसिकजीपर टिक गईं । दोनों हाथ जोड़े वे उठ खड़े हुए । बोले, "मैं जनाब रसिकजीसे अनुरोध करूँगा कि वे सभापतिका ख़ाली स्थान ग्रहण करें ।"

तालियोंकी गड़गड़ाहटसे हॉल एक बार फिर गूँज उठा। और इस बार पहलेसे अधिक देर तक गूँजता रहा । रसिकजीने बैठे ही बैठे हकलाते हुए प्रतिवाद किया, "जी····देखिए····मैं····मैं तो····"

इस आकस्मिक अप्रत्याशित आमन्त्रणसे वे काफ़ी घबरा गये थे । आवाज़ ठीकसे निकल नहीं रही थी ।

किन्तु श्रोताओंके सम्मिलित आग्रहके आगे उन्हें झुकना पड़ा । किसी नवविवाहिता वधूकी तरह लजाते, सिमटते, अपने भारी-भरकम शरीरको लिये-दिये, वे गद्दीपर पालथी मारकर जा बैठे ।

प्रबन्धकर्ताने तुरन्त आगे आनेवाले शायरोंके नामोंकी एक लम्बी सूची उनके सामने पेश कर दी । रसिकजीने अपने मोटे सख़्त गालों और घनी काली बरौनियोंके बीच चुँधियाई आँखोंसे एकबार उस लम्बी फ़िहरिस्तको देखा और फिर सामने बैठे हजूमपर उचटती-सी नज़र डाली ।

सहस्रों निगाहें एक साथ एकटक उन्हींकी ओर देख रही थीं । उन्हें लगा कि कुछ उनकी ओर देखकर व्यंग्यसे मुसकरा रहे हैं, कुछ कानाफूसी कर रहे हैं तो कई हाथ उनकी ओर इशारे भी कर रहे हैं ।

रसिकजीने उधरसे नज़रें हटा लीं ।

अचानक बायीं ओर बैठी महिलाओंके झुण्डसे दबी हँसीकी कई आवाज़ोंका एक मिला-जुला फव्वारा-सा छूटा । हड़बड़ाकर रसिकजीने अपनी मोटी गर्दनका हैंडिल उनकी ओर घुमाया : देखते ही होश फ़ाख़्ता हो गये ।

दस-बारह महिला-श्रोताओंका वह झुण्ड उन्हींकी गोबर-गणेशी कायाकी ओर देख-देखकर हँस रहा था। उनके बीचमें बैठी हुई एक चेचक-मुँहा काली शक्लकी प्रौढ़ा अपने आगे निकले हुए दो लम्बे दाँतोंपर जीभ फिराती हुई हँस-हँस कर अपनी साथिनोंसे कुछ कह रही थी और रह-रहकर अँगुलीसे उनकी ओर इशारा करती जाती थी।

रसिकजीके चेहरेपर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उन्होंने घबराकर नज़रें सामने रखी सूचीमें गड़ा दीं।

तभी 'लखनवी' ने नये उत्साहसे दूसरी नज़्म शुरू की :

"झिलमिलाते हुए मासूम गुनाहोंके चिराग़"

और आदतन दाद पानेके लिए रसिकजीकी ओर अपनी सुराहीदार पतली गर्दन घुमाई। पर यह क्या ? आज यह अजीब बात कैसे ? रसिकजी आज शेर और शायरकी दुनियाको भूलकर, कुछ आगे झुके हुए, अपने सामने रखी लम्बी फिहरिस्तको पढ़नेमें मशगूल थे। कभी-कभी छिपी नज़रोंसे वे उस दो दाँतोंवाली भुतनीकी ओर भी देख लेते। हॉलमें पलभर स्तब्धता छायी रही। जनाब शायर भी किंकर्त्तव्यविमूढ़से क्षण भर चुप रहे।

हॉलकी इस मुकम्मल ख़ामोशीसे चौंककर रसिकजीने अपनी मोटी गर्दन उठायी। उनके मुँहसे खरखराती आवाज़में एक अस्फुट-सा 'हें ?' निकला ! फिर जैसे शीघ्र ही परिस्थिति समझकर वे बोल उठे, "वल्लाह, क्या ख़ूब !"

लेकिन शेरकी पंक्ति तो उन्होंने सुनी नहीं थी, दुहराते कैसे ? साथ ही इस बार उनकी आवाज़में उस चिर-परिचित मस्ती, उस जाने-बूझे निश्चिन्त उल्लास, उस झूम-झूम उठती मदहोशीका स्पष्ट अभाव था।

थोड़ी देर बाद, शेर पढ़ते-पढ़ते, जनाब 'लखनवी' ने जो फिर उनकी ओर पलकें उठाईं, तो उन्हें कुछ चिन्तित-सा महिला-श्रोताओंकी ओर देखते पाया। माथे और कनपटीपर उभरी हुई मोटी रेखाएँ और नसें उनके मनकी चिन्ता और अशान्तिको प्रकट कर रही थीं।

उसके बाद मुशायरा जमा नहीं। रसिकजी पालथी मारे किंकर्त्तव्यविमूढ़ से कभी सामने रखे काग़ज़में बाक़ी बचे शायरोंके नामोंको पढ़ते, कभी अपनी चुँधियाई बुझी-बुझी-सी आँखोंमें चिन्ताकी स्याह छाया लिये ताकते महिला-समूहकी ओर जिनके बीचमें बैठी वह दो दाँतों वाली भुतनी अब भी उसी तरह शैतानी भरी हँसी हँस रही थी, तो कभी एक-एक उखड़ते श्रोतागणोंकी ओर। उन्हींकी ओर निराश-हताशसे देखते शायरकी तरफ़ उनकी निगाहें यदा-कदा ही उठ पाती थीं।

मुशायरा ख़त्म होनेके बाद बिना किसीसे एक शब्द भी बोले वे जल्दी-जल्दी मंचसे उतरे, जूते पहने, और लम्बे-लम्बे डग भरते, इस तरह घरकी ओर चले गोया किसी बहुत बड़ी बलासे गला छुड़ाकर भाग रहे हों।

और तबसे रसिकजीका वह पुराना जोश ठंढा पड़ चुका है। वैसे मुशायरोंमें जाते वे अब भी हैं, लेकिन आगेकी पंक्तिमें नहीं बैठते। बाज़ार-के नुक्कड़वाली चाय-दूकानमें भी अब वे पहलेकी तरह मुशायरोंकी चर्चा करते हुए दिखाई नहीं देते।

डायरी

बीसवीं सदीके एक राजपूतकी डायरी

बीसवीं सदीके एक राजपूतकी डायरी

जनवरी १९५९ की एक सुबह ।

बापू कहा करते थे—यों कहा करते थे गोया उन्होंने स्वयं अपनी आँखों देखा हो, लेकिन दरअसल आँखों तो उन्होंने क्या उनके बापूने या उनके भी बापूके बापूने भी नहीं देखा होगा, पर जिस विश्वाससे बापू कहा करते थे, लगता था कि यह सब उन्होंने देखा ही नहीं, जिया भी है। तो बापू अक्सर कहा करते थे : "यह गढ़ कभी बहुत मजबूत, बहुत आबाद था। इसकी दीवालें [और बापू अपनी मूँछोंकी नोकपर एक मरोड़ देते] हमारे वीर पूर्वजोंकी तनी हुई मूँछों-सी सीधी खड़ी रहती थीं; सिन्दूरी बुर्जियोंपर गर्दनें आगे निकाले, डरावना मुँह बाये, तोपें लगी रहती थीं; सिंह-द्वारके विशालकाय लौह-कपाटमें जड़ी फ़ौलादी नुकीली कीलें चमचमाती रहती थीं; गढ़के बीचका विस्तृत मैदान पुट्ठे फड़फड़ाते घोड़ोंकी हिनहिनाहट और ढोल-सी जीभ फुलाये ऊँटोंकी बलबलाहटसे जीवन्त रहता था; और इन सबके बीच केसरिया पाग बाँधे, उजले अंगरखे पहने, लम्बी पैनी तलवारें लटकाये और मूँछोंको मरोड़ देते हमारे गर्वीले हठीले पूर्वज अकड़-अकड़कर चला करते थे।"—कहते-कहते अक्सर ही बापूकी बूढ़ी आँखें दूर न जाने कहाँ खो-सी जातीं। उसके बाद वे दिन-भर चुप रहते। बहुत कुरेदनेपर हाँ, हूँ, में जिस तरह उत्तर देते, लगता बहुत दूर किन्हीं अतल गहराइयोंमेंसे आवाज़ आ रही है।

बापूकी बात बापू ही जानें, मैंने तो जबसे होश सँभाला है इस क़िलेकी बुर्जियाँ और इसका मैदान किसी बेवाकी सूनी माँगसे उजाड़ पड़े देखे हैं, बूढ़े ठाकर जोरावरके मुखपर पड़ी झुर्रियोंकी तरह इसके सिंहद्वारका लौह-कपाट बुरी तरहसे तुड़-मुड़ गया है, उसीकी झुकी हुई कमरके समान

इसकी दीवालें जगह-जगहसे ढहकर झुक गई हैं, जहाँ कबूतरोंने घोंसले ब लिये हैं—कबूतर जो सुबह-शाम अपनी गुटरगूँकी भाषामें इस क़िले मौतका गोया मर्सिया पढ़ते रहते हैं।

ऐसा नहीं कि कबूतर और कहीं हों ही नहीं, होंगे, हर जगह हों लेकिन इतने ज़्यादा और इतने गुस्ताख़ शायद ही और कहीं हों। सु होते ही ये सैकड़ों और हज़ारोंकी तादादमें क़िलेकी दीवारोंसे उड़-उड़ पासके इस छोटेसे बाज़ारकी हर चीज़पर छा जाते हैं। मैं दूकानके भीत से गुड़की भेली, मूँगफलीके तेलका पीपा और बाज़रा, मोठ आदिके बं निकालकर बाहर चबूतरेपर रखता हूँ और ये गुस्ताख़ अपने बेडौल प फड़फड़ाते, गर्दनें अण्डाकार फुलाये, गुटरगूँकी माला जपते इनपर आ बैठ हैं गोया मैं इन्हींके लिए इन्हें बाहर सजा रहा होऊँ। पर न जाने क्य मुझे अब इस गुस्ताखीपर गुस्सा नहीं आता, शायद इसलिए कि बापू जीवि थे और मै छोटा-सा था और ऐसे मौकोंपर छड़ी लेकर कबूतरोंपर पि पड़ता था तो बापू अपनी घनी मूँछोंको हथेलीसे सहलाते हुए शब्दोंमें ज कितना दर्द भरकर कहते थे, "रहने दे बेटा, रहने भी दे; निरीह जानों क्यों मारता है ? जो हाथ तलवार उठानेको बने थे, उनमें यह लकड़ी, त तराजू····मजबूरी है बेटा····बेज़बानोंको न मार····" और न जाने ब कितनी देर क्या-क्या बड़बड़ाते रहते ! मैं तब उनकी बातें नहीं सम पाता था, आज जब वे नहीं रहे तो उनकी बातें याद आती हैं और मे उठी हुई छड़ी अनायास वापस झुक जाती है।

पर ये कबूतर हैं भी तो बेहद ढीठ ! कल मेरा पड़ोसी बालूराम पंसा अपने एक ग्राहकको दो पैसेका नमक दे रहा था कि एक जनाबको क सूझी कि मैलसे काली पड़ी उसकी पगड़ीपर प्रेमसे आ बैठा। लालाके दो हाथ नमककी पुड़िया बाँधनेमें व्यस्त थे, लिहाजा उसने अपनी मोटी गर्द हिलाकर कबूतरको उड़ाना चाहा, दो-तीन बार गर्दनको ज़ोर-ज़ोरके झट दिये भी लेकिन जनाब ठहरे खान्दानी ढीठ, नहीं उड़ना था, नहीं उड़े

इस बीच पुड़िया बँध चुकी थी : उसे दाहिने हाथसे ग्राहककी ओर बढ़ाते हुए लाला बालूरामने बायें हाथसे कबूतरको पकड़ा, तब कहीं साहब बहादुर नीचे आये। लालाजीने देखा कि हाथपर कुछ गीला-गीला लगा है, तो पगड़ी उतारी : मन खीझ और गुस्सेसे भर उठा—पगड़ीके आड़े-तिरछे पेचोंके बीच कबूतरकी बीट पड़ी थी। आज वे नंगे सिर आये थे। शायद पगड़ीकी पन्द्रह वर्षोंकी जिन्दगीमें आज पहली बार वे उसे धोकर सुखा आये थे। लगता है कलकी गुस्ताख़ीका बदला लेना वे मन-ही-मन निश्चित कर चुके थे, शायद इसीलिए उन्होंने अपने पास एक बड़ी-सी छड़ी रख छोड़ी थी और जो भी बदक़िस्मत कबूतर उसकी मारके घेरेमें आता, उसे वे एक भरपूर हाथ जमा देते।

यह लाला सुबह ६ बजे दूकानपर आकर बैठ जाता है। अपने बैठनेके लिए उसने बीचमें एक मैली गद्दी बिछा रखी है। बिक्रीका सारा सामान छोटे-छोटे डिब्बों और थैलियोंमें उसके चारों ओर इस तरह रखा रहता है कि वह गद्दीपर बैठा-ही-बैठा उन तक हाथ पहुँचा सके। दोपहरमें उसकी छोकरी बाजरेकी चार रोटियाँ और एक बटलोईमें दाल लेकर आती है जिसे बालूराम उसी तरह बैठा-बैठा खा लेता है। रातमें आठ बजे वह दूकान बढ़ाकर घर लौटता है। इस तरह सुबह ६ बजेसे रातमें ८ बजे तक मुतवातर वह एक ही जगह बैठा रहता है। आज पन्द्रह वर्षोंसे यह क्रम यूँ ही चला आ रहा है। नतीजा यह कि बालूरामके पैर इस कदर फूल गये हैं कि लगता है उसने घुटनोंसे नीचे किसी हाथीके बच्चेके पैर काटकर लगा लिये हों। उठनेमें किसी चीज़का सहारा लेना पड़ता है, और लाठीके सहारे बड़े कष्टसे चल पाता है। लेकिन सुबह ६ बजेसे रातमें ८ बजे तक दूकानमें बैठनेवाले उसके कार्यक्रममें अब भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। रास्तेमें लड़के उसे हाथीका बच्चा कहकर चिढ़ाते हैं, हँसते हैं और तालियाँ बजाते हैं। और मुझे याद है, बापू अक्सर इसी बालूरामके बारेमें कहा करते थे कि इसके परदादाके जोड़का साँड़नी सवार

इलाक़ेमें दूसरा नहीं था, और उसके तलवार चलानेकी सफ़ाईको देखकर एक बार जयपुरके महाराजा भी वाह-वाह कह उठे थे।

मेरे देखते-देखते बालूराम आज आठ बार कबूतरोंपर छड़ीकी आज़माइश कर चुका था। जब नवीं बार उसने फिर छड़ी उठायी तो मुझसे नहीं रहा गया; मैंने अपनी दूकानसे ही आवाज़ लगाई, "लालाजी, आज दुश्मनोंके मिज़ाज कुछ बिगड़े हुए लगते हैं !"

गर्दन बिना मेरी ओर घुमाये ही लाला बालूरामने खीझ भरे लहज़ेमें कहा, "साले निहायत बदतमीज़ हैं ये कबूतर ! सिर चढ़े आते हैं। मैं सालोंको····" बात बीचमें अधूरी छोड़ बालूरामने उसी समय छड़ीकी मारकी हदमें आये कबूतरपर दसवाँ हाथ फटकारा और मेरी ओर देखकर कहा : "एक तो साला महँगीका ज़माना···कुछ बिकता-बिकाता नहीं, ऊपरसे ये साले कबूतर जान खाये जाते हैं !"

मैंने सहानुभूति जताते हुए कहा : "हाँ, बिक्री-विक्री तो आजकल कुछ खास नहीं होती····"

मेरी बात बीचमें ही काटकर बालूराम इस तरह बोले गोया किसीने उन्हें गाली दे दी हो, "बिक्री हो कैसे ? साले सब लोग तो गाँव छोड़कर भाग गये। मिलेगा साला लोगको कलकत्ता, बम्बईमें····" और लाला बालूरामने गाँव छोड़कर कलकत्ता, बम्बई बस जानेवाले सब गाँववालोंको एक ही मोटी गालीकी हदमें समेटते हुए छड़ी घुमाकर ग्यारहवीं बार जो फटकारी तो वह उनकी मोटी हथेलीकी गिरफ्तसे फिसल गयी और बजाय कबूतरके, सामनेसे आ रहे गाँवके मामा गनपत चौधरीके टखनोंसे जा टकरायी।

छड़ीने शायद बहुत हौलेसे ही गनपत मामाके टखनेको चूमा होगा लेकिन उनके लिए इतना ही बहाना काफ़ी था। एक बार दोनों हाथ आसमानकी ओर उठाकर उन्होंने "हाय रे, लालाने मार डाला !" की हाँक लगायी, सिरमें दो-तीन ज़ोरदार झटके दिये जिससे उनकी किश्तीनुमा

लम्बी खोपड़ीके पिछले हिस्सेपर टिकी हुई मैली चीकट टोपी और दायें कानमें लगी आधी बीड़ी उछलकर ज़मीनपर आ रही। इतना सब पलक झपकते हो गया और बाज़ारके लोगोंकी निगाहें गनपत मामाकी ओर मुड़ीं तब वे दोनों हाथोंसे टखना पकड़े लालाके सात पुश्तोंका क्रिया-कर्म करते हुए हाय-तौबा मचा रहे थे। लाला बालूरामने दो-तीन बार उठनेकी कोशिश की, लेकिन अपने भारी पैरोंके कारण जब नहीं उठ सके तो वहींसे बैठे-बैठे, "भैया गणपत, भैया गणपत" कहते हुए गाँवके मामाको शान्त करनेकी कोशिश करने लगे।

न जाने बचपनसे ही इस गनपत मामाकी सूरतसे मुझे इस क़दर नफ़रत और कोफ़्त क्यों रही है कि उसकी ऊँटकी गर्दन जैसी लम्बी बेडौल टाँगों और कमीजके सदा खुले रहनेवाले बटनोंके भीतरसे झाँकती छातीकी हड्डियोंको देखते ही मैं अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेता था। बापू थे, तो वह सीधा हमारी दूकानपर आता और बे-झिझक उनके हुक्केकी नली अपने गन्दे होठोंके बीच दबाकर गुड़गुड़ाने लगता था। अब बापू नहीं रहे, तो भी इसने अपना क्रम नहीं बदला है। मेरी जाहिर उपेक्षाके बावजूद वह अब भी सीधा हमारी दूकानपर आता है और अपने कानमें लगी रहनेवाली आधी बीड़ी होठोंके बीच लगाकर, बेशर्मीसे हाथ फैलाकर, कहता है, "ला भइया, माचिस तो दे।" इत्मीनानसे बैठकर वह उस आधी बीड़ीके कुछ कश लगाता है और बचा हुआ टुकड़ा कानपर टिकाता है और चला जाता है। जहाँ तक मुझे याद है, रोज़ सुबहके उसके इस कार्यक्रममें आज तक व्यवधान नहीं आया है।

जबसे गनपतका बेटा कलकत्ते जाकर इसी गाँवके एक लक्ष्मीपतिकी गद्दीमें नौकरी करने लगा है तबसे गनपतका यह तकिया-कलाम हो गया है कि जल्दी ही उसका बेटा, उसे कलकत्ता बुला लेगा और वहाँ वह दिल खोलकर बरसा और फ़ीचरोंका सट्टा खेलेगा। यहाँ गाँवमें भी कोई सट्टा होता है! सट्टा खेलना हो तो कलकत्ता और बम्बई हीमें खेले! एक दिनमें

लखपती बनता है आदमी, एक दिनमें ! रुपये सड़कोंपर यों पड़े रहते हैं कि कोई बटोर नहीं पाता ! आज पाँच साल हो गये गनपतके बेटेको कलकत्ता गये और तबसे तकरीबन रोज़ ही गनपत अपने कलकत्ता जानेके विचारको दोहरा देता है ।

लाला बालूरामसे गनपत मामाको शुरूसे ही चिढ़ रही है । शायद इसका कारण यह हो कि बालूरामने गनपतके कई बार माँगनेपर भी उसे आज तक कभी एक बीड़ी नहीं दी और न अपनी दूकानपर बैठनेकी इजाजत ही दी । आज पहली बार गनपतको बरसों पुरानी दुश्मनीका बदला लेनेका मौक़ा मिला है । छड़ीका लगना था कि उसने हाय-तौबा मचाकर समूचे बाज़ारको सिरपर उठा लिया । आखिर बालूराम लाठीका सहारा लेकर उठा, गनपतको मनाकर अपनी दूकानपर बिठाया, बीड़ीके अलावा गर्द जमे काजू किसमिसकी भी उसे भेट चढ़ाई और यह स्वीकार किया, कि बालू और धूलमें लिपटे इस गाँवमें क्या रखा है, कि गनपत जल्दी ही कलकत्ता जाकर लखपती बन जायेगा, कि बालूरामकी भी दूकान अगर कलकत्तेमें होती तो अब तक वह भी लखपती बन गया होता आदि आदि—तब कहीं गाँवके मामाके देवता राजी हुए ।

बालूरामकी भेंट-पूजा स्वीकार कर जब गनपत मेरी दूकानपर आया तो आज अपनी इस जीतपर वह बेहद खुश नजर आ रहा था । उसके दोनों कानोंमें दो साबूत बीड़ियाँ लगी हुई थीं और तीसरीसे वह पूरे सन्तोषके साथ लम्बे कश लगा रहा था । आज पहली बार उसने बीड़ीकी फरमाइश नहीं की और आते ही ऐलान किया कि उसने रातमें सपना देखा है कि वह कलकत्ता चला गया है और उसने वहाँ इतना रुपया कमाया है कि शेयरोंके कच्चे बाड़ेमें उसने अपनी गद्दी खोल ली है । उसी जोशमें वह एकके-बाद-एक तीनों बीड़ियाँ पी गया और बिना चौथी बीड़ी मुझसे माँगे मुँह ही मुँहमें कुछ बड़बड़ाता, लम्बे-लम्बे डग उठाता, सट्टेके बाड़ेकी ओर चला गया ।

राजस्थानके भीतरी अञ्चलमें बालूके टीबोंसे घिरा हुआ मेरा यह गाँव कभी कितना आबाद था और अब कितना उजड़ गया है ! कई तो मेरे देखते-देखते ही गाँव छोड़कर हज़ारों मील दूर चले गये थे। जो बचे हैं उनपर भी कलकत्ता और बम्बईके नाम जैसे जादूकी तरह छाये हुए हैं। लाला बालूराम कई बार सुना चुके हैं कि अगर उनकी दूकान कलकत्तेमें होती तो अब तक उन्होंने लाखों बना लिये होते, गनपत मामाने अब तक अपनी गद्दी स्थापित कर ली होती, जागन हलवाईने बड़ा भारी होटल खोल लिया होता, भोला पनवाड़ीकी दूकान आज कलकत्तेमें होती तो उसने अब तक रेडियो लगा लिया होता। यहाँ तक कि उस दिन मालिन भी कह रही थी कि अगर यही मूलियाँ, मतीरे और ककड़ियाँ उसने कलकत्तेमें बेची होतीं तो इनके १५ रु० उठ आते : यहाँ कुल मिलाकर बारह आने भी नहीं मिले····

पता नहीं, पूर्वजोंके इस गाँवका क्या होनेवाला है ? बहुतसे घरों और दूकानोंमें ताले लग चुके हैं। अगर सारा गाँव इसी तरह खाली होता चला गया तो फिर इन बेचारे कबूतरोंका क्या होगा ? और क्या पता, ये कबूतर भी किसी दिन गाँववालोंकी तरह कलकत्ता, बम्बई जानेकी सोचने लगें।

★ उसी दिन दोपहर

दोपहर हुई नहीं कि यह मक्खियोंका हजूम न जाने कहाँसे आ धमकता है ! जहाँ देखो मक्खियाँ ही मक्खियाँ ! तेलके पीपे, गुड़ और अनाजके बोरे ही नहीं, रोकड़की पेटी और बैठनेकी गद्दी तक इनकी घिनौनी भनभना-हटसे नहीं बच पातीं। लगता है, इन कबूतरों और मक्खियोंमें एक रहस्यमय समझौता हो गया है कि दोपहर हुई कि कबूतर अपने घोसलोंमें चले जायेंगे और उनकी जगह मक्खियाँ गाँव पर अपना अधिकार जमा

लेंगी। गोया, गाँव अब कबूतरों और मक्खियोंकी ही मिल्कियत रह गया है।

हस्बमामूल अधिकांश लोग दूकानें बढ़ाकर खाने चले गये हैं। केवल भोला पनवाड़ीकी दूकानपर शतरंजके कुछ शौक़ीन जमे हैं। बालूराम अपनी छोकरी द्वारा लाई बाजरेकी रोटियाँ बटलोईकी दालमें भिगो-भिगोकर खा रहा है।

अभी मैं घरकी सीढ़ियाँ चढ़ ही रहा था कि भीतरसे आती चाची और माँके झगड़ेकी तेज़ आवाज़ें सुनाई पड़ीं और मन तलखीसे भर उठा। पता नहीं इन्हें क्या मज़ा आता है लड़नेमें! ज़रा-ज़रा-सी बेमतलबकी बातोंको लेकर दिनमें पचासों बारकी यह झड़प! गोया इनके लिए यही एक महत्त्वपूर्ण काम रह गया हो।

सदाकी तरह आज भी माँका हाथ पकड़कर रसोईमें ले गया। चाची थोड़ी देर और बड़बड़ाकर अपनी रसोईमें घुस गई। रसोईके घुटते धुएँमें माँ आज भी कुछ देर सिसकती रही। फिर बोली, "बेटा, मैं तो रोज़-रोज़के इस झगड़ेमे तंग आगई। आज तेरे बापू ज़िन्दा होते तो मैं यह नरक छोड़कर कलकत्ता चली जाती। तू तो मेरी सुनता नहीं····"

एक ओर रसोईके धुएँकी कड़वाहट और दूसरी ओर माँकी सिसकियाँ! रोज़की तरह आज भी आधा पेट खाकर भीतर कमरेमें गया कि कुछ देर सो लूँ तो देखा, पत्नी आज बच्चेसे माथा-पच्ची करनेकी जगह उसे गोदमें बैठाये उसके बालोंमें कंघी कर रही थी। इस अप्रत्याशित दृश्यपर कुछ आश्चर्य तो हुआ लेकिन उधर विशेष ध्यान न देकर मैं खटियापर लेटा ही था कि पत्नी पायताने बैठकर पैर दबाने लगी। यह दूसरी आश्चर्यकी बात थी। सोच ही रहा था कि पत्नीने कहना शुरू किया, "आज बजरंगकी बहू कलकत्तेसे लौटी है। मिलने आयी थी। बता रही थी कि कैसे वहाँ सिनेमा देखने जाती है, विक्टोरिया मैदानमें घूमने जाती है····उसकी नायलोनकी साड़ी तो बस····।"

मैंने दोनों हाथोंसे कान बन्द करके करवट बदल ली। पत्नी पायतानेसे उठकर सिरहाने आ बैठी और बालोंपर हाथ फेरती हुई बोली : "आप भी एक बार कलकत्ता जाइए न ! फिर हम लोगोंको भी बुला लीजिएगा। कलकत्तेमें...."

और मुझे लगा मैं ज़ोरसे चीख़ उठूँगा। मैंने बालोंपरसे पत्नीका हाथ हटा दिया और चादर सिर तक ढक ली।....कलकत्ता ! कलकत्ता !! कलकत्ता !!!

★ उसी दिन शाम

सोकर उठा, तो बजाय भोलाकी पान की दूकानपर जाकर शतरंजकी बाजी देखनेके, क़दम अपने-आप स्टेशनकी ओर बढ़ने लगे। रास्तेमें पड़नेवाले अधिकांश घरोंमें ताले लगे थे। कभी जिन मोहल्लोंसे गुजरते समय मोटे-ताजे मुस्टण्ड कुत्ते भौंक-भौंककर राहगीरोंका चलना मुश्किल कर देते थे, वही अब सूने पड़े थे।....तो इन्सान ही नहीं, गाँवके कुत्ते भी जैसे गाँव छोड़कर कहीं चले गये थे या जो बचे भी थे उनमें अब राहगीरोंपर भौंकनेका वह जोश बाक़ी नहीं रहा था।

हमारा गाँव रेलका आख़िरी स्टेशन है। सुबह जो गाड़ी आती है, वह आधा घण्टा बाद वापस चली जाती है; शामको वही गाड़ी फिर आती है और आधा घण्टा बाद वह भी वापस चली जाती है। बालूको रौंदते हुए मेरे क़दम जब प्लेटफार्मपर पहुँचे तो शामकी गाड़ी वापस जानेके लिए तैयार खड़ी थी। यह गाड़ी सुबह तक जयपुर पहुँचा देगी, वहाँसे एक घण्टे बाद जो गाड़ी मिलेगी वह दिल्ली पहुँचा देगी और दिल्लीसे मिलनेवाली गाड़ी सीधी कलकत्ता ले जायेगी....कलकत्ता ! जिसके बारेमें बचपनसे मैं इतना कुछ सुनता आया हूँ, जो....इंजनकी सीटी मेरे विचारोंकी शृंखलाको तोड़ देती है, डिब्बे धीरे-धीरे आगे सरक रहे हैं, इच्छा होती है, तीव्र इच्छा होती है कि दौड़कर एक डिब्बेमें चढ़ जाऊँ, लेकिन प्लेटफार्मकी रेत

जैसे पैरोंको जकड़ लेती है, डिब्बे और तेज़ीसे आगे सरकने लगते हैं, अन्तिम डिब्बा मेरे पाससे होता हुआ आगे निकल रहा है, अब आख़िरी डिब्बेकी केवल पीठ दिखायी दे रही है, और धीरे-धीरे, दूर बालूके टीबोंके बीच रेंगती रेल एक काला धागा मात्र रह जाती है।

भारी क़दमों मैं घरकी ओर लौटता हूँ। आज वापस लौट आया हूँ, लेकिन दूर सपनोंके उस देशमें जानेका मोह मैं कब तक और दबा सकूँगा, आख़िर कब तक और ?····

[लेखकके आगामी उपन्यासका प्रथम अध्याय]

इण्टरव्यू

बारहवीं सदी और बीसवीं सदीके बीच
एक काल्पनिक इण्टरव्यू

८

बारहवीं सदी और बीसवीं सदीके बीच :
एक काल्पनिक इण्टरव्यू

उस दिन महाकवि कुछ परेशान-से थे। ठुड्डी हथेलीपर रखे, वे कल्प-वृक्षके नीचे स्फटिक शिलापर चिन्तामग्न बैठे थे। आधी रातका चाँद आसमानमें काफ़ी ऊँचा चढ़ आया था और अपनी किरणोंका अमृत दोनों हाथोंसे सीधा उनकी पेशानीकी परेशान रेखाओंपर उँडेल रहा था कि उन्हें कुछ तो राहत महसूस हो, लेकिन महाकविको जैसे इसकी कोई ख़बर न थी।

एक अजीब-सा सन्नाटा नन्दनकाननकी समूची फ़िज़ामें व्याप्त था गोया अणु-परमाणु तकने उनकी चिन्तासे अभिभूत हो साँस लेना बन्द कर दिया हो।

आख़िर महाकविने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा मानो मन-ही-मन कुछ निश्चय किया हो और अपना झुका हुआ मस्तक ऊपर उठाया। देखा—सामने देवर्षि नारद खड़े थे।

महाकवि कुछ देर तो उनकी ओर सूनी-सूनी निगाहोंसे इस तरह ताकते रहे जैसे उनको देखते हुए भी देख नहीं पा रहे हों। फिर जब विचारोंकी दुनियासे वे वास्तविकतामें वापस लौटे तो देवर्षिके अभिनन्दनार्थ उठ खड़े हुए।

"आज कविके उन्नत भालपर चिन्ताकी ये काली घटाएँ किस कारण दृष्टिगोचर हो रही हैं?" देवर्षिने पूछा। वे महाकवि चन्दसे बात करते समय अक़्सर जान-बूझकर इसी तरहकी भारी-भरकम और काव्यात्मक भाषाका उपयोग किया करते थे।

"हाँ गुरुदेव, चिन्तित तो हूँ ही। लगता है, माँ सरस्वती मुझसे रूठ गई हैं।" महाकवि चन्द बरदाईने स्फटिक शिलाके एक कोनेपर बैठनेका उपक्रम करते हुए दर्द-भरे लहजेमें कहा।

चाँद इस समय कल्पवृक्षके ठीक सिरपर था और इतना नीचा उतर आया था, गोया इन दोनोंकी बातोंका एक शब्द भी सुननेसे वंचित नहीं रहना चाहता हो। डालियों और पत्तोंसे छनकर आती उसकी शीतल रश्मियोंने दूध-सी श्वेत स्फटिक शिलापर प्रकाश और छायाके ख़ूबसूरत बेल-बूँटे आँक दिये थे।

उन्हीं बेल-बूँटोंपर बैठते हुए नारदने अपने उसी अभ्यस्त काव्यात्मक मूडमें फिर कहा, "महाकवि पहेलियाँ बुझा रहे हैं जिनका भेदन इस मोटी बुद्धिवाले ब्राह्मणके लिए अभिमन्युके चक्रव्यूहसे कम कठिन नहीं!"

आज महाकवि इस काव्य-प्रवाहमें रस लेते नहीं लग रहे थे। अपने गर्दन तक झूलते मुलायम केशोंको दोनों हाथोंसे व्यवस्थित करते हुए उन्होंने गम्भीर स्वरमें उत्तर दिया: "आप तो जानते हैं, गुरुदेव, कि देवराज इन्द्रका जन्मोत्सव है और मुझे मंगलगान पढ़ना है और........"

"....और आपसे इस अवसरके लिए कुछ लिखते नहीं बन रहा है.... यही न?"

"हाँ।"

"अरे छोड़ो भी कवि इन जन्मोत्सवों-उन्मोत्सवोंको!" नारद काव्यात्मक भाषाकी कृत्रिम बुलन्दियोंसे अब अपने स्वभावगत हलके मूडके मैदानमें उतर आये थे। उन्होंने तानपूरेको एक ओर रखा और झोंकमें बोलते गये, "कुछ दीन-दुनियाकी भी ख़बर है या इन्हीं झूठे उत्सवोंमें खोये रहोगे? पता है, तुम्हारे भारतपर इस समय युद्धके बादल मँडरा रहे हैं?"

आश्चर्यसे कविकी बड़ी-बड़ी कटावदार आँखोंके कोने कनपटियों तक खिंच आये और दाईं भौं ऊपर चढ़ गई। उन्होंने कुछ कहनेके लिए मुँह खोला तो देवर्षिने उन्हें अपनी अंगुलिके संकेतसे रोका और स्वयं कहना जारी रखा, "यह समय उत्सवोंपर मंगलगान लिखनेका नहीं है कवि। आज दिल्ली अपने बारहवीं शताब्दीके वीर कविकी ओर, 'पृथ्वीराज रासो' के सर्जक कविकी ओर इस आशासे देख रही है कि वह आज फिर ऐसे

फड़कते हुए कड़खे लिखे जिन्हें सुनकर दिल्लीकी बूढ़ी नसोंमें जमा हुआ रक्त लावा बनकर उबल पड़े और शत्रुओंको जलाकर भस्म कर दे।''

महाकविको जैसे किसीने सोतेमें झकझोर कर जगा दिया हो। पेशानी-पर पड़ी हुई चिन्ताकी रेखाएँ यों ग़ायब हो गयीं जैसे वहाँ कभी थीं ही नहीं, विशाल भुजाओंकी मछलियाँ तड़प उठीं, सीना फूलकर गजभर चौडा हो गया और दाहिना हाथ अपने-आप घनी मूँछोंपर जा पहुँचा। अनायास ही उनके मुँहसे 'पृथ्वीराज रासो'की निम्नलिखित वीर पंक्तियाँ जोशीले स्वरोंमें फूट पड़ीं—

बज्जिय घोर निशान रान चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र-मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मनवेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिक गगन,
रंगन मगन भई शोन धर।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि,
हुरेउ रंग नव रत्त वर॥

फिर वे झटकेसे उठ खड़े हुए—उनकी कुहनीसे टकराकर तानपूरेके तार ज़ोरसे झनझना उठे और वह झनझनाहट आस-पासके स्तब्ध वातावरणको चीरती, नन्दनकाननके मौन प्रहरीसे खड़े वृक्षोंसे टकराती, दूर आम्रकुंज तक फैलती चली गयी, जहाँ बैठी कोयलने अपनी मिश्रीघुली कुहकसे मानो उसका स्वागत किया, और फिर उस कुहककी ऐन्द्रजालिक ध्वनि-प्रतिध्वनिमे रसमय हो नन्दन-काननका जैसे पत्ता-पत्ता झूम उठा।

लेकिन महाकवि इन सबसे बेख़बर जिस प्रकार पहले चिन्ताकी एक दुनियामें थे, उसी प्रकार अब उत्साहकी दूसरी दुनियामें पहुँच चुके थे। 'मेरा भारत मेरी ओर देख रहा है,····मेरे चौहानकी दिल्ली मुझे पुकार रही है····और मैं यहाँ नन्दनकाननमें निश्चिन्त बैठा हूँ!''····आदि बड़-

बड़ाते हुए महाकवि अपने लम्बे-लम्बे डग उठाते काननके मुख्य द्वारकी ओर चले। उन्होंने एक बार भी पलटकर नारदकी ओर नहीं देखा।

पूर्वके वातायनसे प्रकाशको चुप-चुप अपनी ओर ताकते देख चाँद-रानी ने लजाकर अपना मुखड़ा झीने घूँघटमें छिपा लिया।

स्वर्गके राजकविने अपने प्रासादमें पहुँचकर प्रधान परिचारिकाको आदेश दिया कि वह कविकी उस पोशाकको ले आये जिन्हें पहने हुए वे आजसे आठ शताब्दियों पूर्व मर्त्यलोकसे स्वर्ग आये थे और जो अब तक बहुत सँभालकर रखी हुई थी। चूड़ीदार अचकन और लम्बा अँगरखा और पगड़ी और उसपर लगी हुई बड़े-से हीरेकी कलगी और मोतियोंका कण्ठ-हार और सम्राट् पृथ्वीराज द्वारा मिली हुई तलवार—कवि चन्दकी आँखों-के सामने बारहवीं शताब्दीके वे भूले-बिसरे दिन एक बार फिर सजीव हो उठे और वे कुछ देर खोये-से उनकी ओर देखते रहे। फिर उन्होंने जल्दी-जल्दी उन्हे पहना और जब वे घोड़ेपर सवार होकर अपने प्रासादके मुख्य-द्वारसे बाहर निकले तो इन्द्रपुरी अपने स्वामीके जन्मदिवसके उपलक्ष्यमें नयी दुलहिन-सी सजी-वजी बिहँस रही थी। कवि अन्य देवगणोंकी अपनी ओर उठी आश्चर्य-चकित और कुतूहलपूर्ण निगाहोंकी तनिक भी परवाह किये बग़ैर, अपना घोड़ा कुदाते स्वर्गकी सीमा तक पहुँचे और वहाँसे उन्होंने सुदूर नीचे छोटे गेंद-सी दिखाई देती पृथ्वीको एकबार भर नज़र देखा और फिर अपने घोड़ेको हलकी-सी एड़ लगाई।

दूसरे क्षण महाकवि चन्द बरदाईका घोड़ा उस मैदानमें खड़ा था जहाँ आजसे आठ शताब्दियों पूर्व उन्होंने अपने प्यारे सम्राट्के साथ अपना रक्त बहाया था।

सब कुछ वैसा ही था। केवल सामने कुछ दूरपर एक पक्की सड़क और उसके किनारे-किनारे खड़े खम्भों और उनपर लगे तारोंके अलावा महाकवि

उस मैदानके कण-कणको पहचानते थे। पुरानी स्मृतियोंमें डूबे-डूबेसे उनके होंठ बिना उनकी जानकारीके ही बुदबुदाये—

हिन्दुवान-थान उत्तम सुदेस।
तहँ उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस॥
सँभरि-नरेस चहुआन थान।
प्रथिराज तहाँ राजंत भान॥
सँभरि नरेस सोमेस पूत।
देवत्त रूप अवतार धूत॥
जिहि पकरि साह साहब लीन।
तिहुँ बेर करिय पानीप-हीन॥
सिंगिनि-सुसद्द गुनि चढ़ि जंजीर।
चुक्कइ न सबद बेधंत तीर॥

सूरजकी किरणोंमें क्रमशः बढ़ती गर्मी और अपने लम्बे अँगरखे और चुस्त पायजामेके भीतर चिपचिपाते पसीनेके बावजूद कवि चन्दका ध्यान अपनी स्मृति-समाधिसे नहीं टूटा। ध्यान आख़िर टूटा एक तेज़ घरघराहट की आवाज़से। चौंककर महाकविने देखा—सीधी पसरी सड़कपर एक छोटी-सी कक्षनुमा वस्तु तेज़ीसे फिसलती चली आ रही थी। तुरन्त यान्त्रिक गतिसे कविका दाहिना हाथ अपनी कमरपर लगे तरकशकी ओर बढ़ा, पलक झपकते एक तीर धनुषपर चढ़ा और हवामें एक हलकी सरसराहट-सी हुई—दूसरे पल वह तेज़ीसे फिसलती कक्षनुमा वस्तु चीं ई ई ईकी तेज़ आवाज़के साथ कुछ दूर घिसटकर खड़ी हो गई।

महाकविने घोड़ेको एड़ लगाई और उसके बगलमें पहुँचे। कमरेनुमा वस्तुकी काँचकी एक खिड़की नीचे सरक गई और एक चेहरेने बाहर खड़े कविकी ओर झाँका।

खुली खिड़कीसे बहुत ही शीतल हवाकी एक लहर निकलकर महाकवि के तप्त मुखमण्डलपर बहती प्रस्वेदकी बूँदोंसे टकरायी तो कविको बड़ा सुख

मिला। भौंहोंका तनाव कुछ कम हुआ। लेकिन उन्होंने उसी तरह घोड़ेपर अकड़कर बैठे-बैठे ही रोबीली आवाज़में पूछा, "तुमलोग कौन हो और यह कक्षनुमा वस्तु क्या है ?" महाकविका दाहिना हाथ बराबर उनकी कमरसे झूलती तलवारकी मूठपर था और बायें हाथसे उन्होंने घोड़ेकी रास थाम रखी थी।

खुली खिड़कीमेसे अब एककी जगह दो चेहरे झाँक रहे थे—दाढ़ी-मूँछ सफाचट और सिरपर फ़ौजी टोपी। वे कुतूहलपूर्ण आँखोंसे इस विचित्र 'जन्तु' की ओर देख रहे थे।

कोई उत्तर न पाकर वीर कविकी दाहिनी भौं ऊँची चढ़ गई, गर्दन टेढ़ी हो गई और नथुने फड़फड़ाने लगे। तलवारको म्यानसे थोड़ा बाहर निकालते हुए उन्होंने गरजकर फिर कहा, "सुना नहीं तुम लोगोंने कि हम क्या पूछ रहे हैं ?"

ज़ोरसे बोलनेके कारण उनके गलेमें झूलता बड़े-बड़े आबदार मोतियों का हार हिलने लगा और तलवार म्यानसे कुछ और अधिक बाहर निकल आई। सूरजकी तेज़ किरणोंमें उनकी पगड़ीपर लगी कलगीका बड़ा-सा हीरा दमक रहा था।

भीतरसे झाँकती अनुभवी आँखोंको अब भाँपते देर नहीं लगी कि यह कोई साधारण 'जन्तु' नहीं जैसा कि उन्होंने समझ लिया था। फ़ुर्तीसे फाटक खुला और फ़ौजी वर्दीमें लैस दो अफ़सर बाहर निकले। उनमेंसे एकने, जो देखनेमें दुबला-पतला और अधिक कमज़ोर था लेकिन जिसके चेहरेपर एक अधिकारीका आत्मविश्वास था, आगे बढ़कर घुड़सवारसे 'शेक-हैण्ड' करनेके लिए अपना दाहिना हाथ आगे फैलाया—तुरन्त कवि चौकन्ने हो गये और उनका हाथ अपनी कमरबन्दमें खुँसी कटारपर पहुँच गया।

वह फ़ौजी अफसर शायद उनके भावको समझ गया था। अपने पतले होंठोंपर एक हलकी मुसकान लाकर उसने कहा, "यह दोस्तीका हाथ है। घबड़ायें नहीं, हम आपको किसी तरहका नुक़सान पहुँचाना नहीं चाहते।"

"मुझे अभी तक अपने पहले दोनों प्रश्नोंका उत्तर नहीं मिला है ?"

"मैं भारतीय सेनाओंका एक अफ़सर हूँ और ये····।"

कविके होंठोंपर मुसकान थिरक उठी—व्यंग्य और अविश्वासकी मुसकान। उन्होंने खुले रूपमें मज़ाक उड़ाते हुए कहा, "यह नाज़ुक देह और फ़ौजी अफ़सर !" कवि ठठाकर हँस पड़े।

दोनों फ़ौजी अफ़सरोंके चेहरोंपर क्रमशः गुस्सेके आसार झलकने लगे थे। एक बार उनका हाथ अपनी कमरपेटीमें लगी पिस्टलकी ओर बढ़ा भी, लेकिन उन्होंने अपने ऊपर क़ाबू किया और पुनः उसी अफ़सरने कवि की ओर मुख़ातिब होकर कहा, "हम लोगोंने अपना परिचय दिया, आप उसपर विश्वास करें या न करें, अब जनाब भी अपने परिचयका सौभाग्य हमें दें।"

"हमारा नाम चन्द बरदाई है और हम सम्राट् पृथ्वीराज चौहानके अन्तर्तम सखा और प्रसिद्ध वीर-काव्य 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता हैं। आज रात्रिमें नारदने हमें स्वर्गमें सूचित किया कि हमारे चौहानकी दिल्ली, हमारे प्यारे भारतपर युद्धके बादल मँडरा रहे हैं, तो स्वभावतः हम अशान्त हो उठे। हमें स्वर्ग काटनेको दौड़ने लगा और हमने तुरन्त भारत आनेका निश्चय कर लिया।" कवि अपने उसी बारहवीं सदीके राजपूती लहज़ेमें बोल रहे थे।

महाकविके प्राचीन ढंगके वस्त्राभूषण और बात करनेके आत्मविश्वास को देखकर उनके कथनपर अविश्वास करनेका कोई कारण दोनों फ़ौजी अफ़सरोंको नहीं मिल रहा था, लेकिन पूरी तरह विश्वास भी कैसे करें ! फिर भी स्पष्ट था कि उनकी दिलचस्पी बहुत बढ़ गयी थी। इस बार फिर उसी अफ़सरने आवाज़को यथासम्भव कोमल बनाते हुए अदबके साथ अर्ज़ किया, "बहुत ख़ुशीकी बात है कि कविवरको अपना भारत देश आज आठ शताब्दियों बाद भी अभीतक याद है और उसकी रक्षाके लिए वे स्वर्गसे

तशरीफ़ ला रहे हैं। लेकिन महाकविको धूपसे परेशानी हो रही होगी। आइए, भीतर कारमें विराजिए। इतमीनानसे बातें होंगी।"

बाहर धूपसे जिस्म तप रहा था और इस अजीबोग़रीब वस्तुकी खिड़की के भीतरसे आते शीतल झोंकेका स्पर्श बड़ा सुखद लग रहा था, इसलिए कविने इस निमन्त्रणको बिना विशेष आपत्तिके ही स्वीकार कर लिया। वे घोड़ेसे उतरे और कारकी ओर उन्होंने पहला क़दम उठाया ही था कि अचानक एक तीखी घरघराहटकी आवाज़ सुनकर रुक गये—एक हवाई जहाज़ काफ़ी नीचा उड़ता हुआ जा रहा था। रुककर कविने एक बार आसमानकी ओर तथा दूसरी बार उन दोनोंकी तरफ़ देखकर कहा, "हमें आश्चर्य है कि आजकल गिद्ध इतने बड़े-बड़े होते हैं और इस तरह आवाज़ करते हुए दिनदहाड़े उड़ते रहते हैं!" और कविका हाथ पुनः अपने तरकशकी ओर उठा। फ़ौजी अफ़सरने तुरन्त आगे बढ़कर उनकी कलाई थाम ली और हँसकर कहा, "कविवर, यह गिद्ध नहीं, इन्सानका बनाया हुआ आसमानमें उड़नेवाला हवाई जहाज है—ठीक वैसे ही जैसे जलमें तैरनेवाले जहाज़ होते हैं और जमीनपर दौड़नेवाली मोटरें होती हैं।"

कविने इन तीनों चीज़ोंको एक साथ समझनेकी कोशिश की और अन्त में झुँझलाकर अपने लम्बे केशोंको झटक दिया। धनुष और तलवार सँभाले हुए वे कारके खुले फाटकके भीतर घुसे। लगा, बर्फ़के कक्षमें आ बैठे है। बाहरकी धूपका लेशमात्र असर भी भीतर नहीं था। कवि आश्चर्यमें भरकर फिर अपनी जिज्ञासा प्रगट करने ही वाले थे कि फ़ौजी अफ़सरने उन्हें बोलनेका अवसर न देते हुए स्वयं ही कहा, "हाँ तो, कविवर, अब बताइए कि आपकी क्या योजनाएँ हैं, यानी आप युद्धमें भारतके लिए क्या कर सकते हैं?"

युद्धका नाम सुनते ही उत्साहसे कवि चन्दके मुखमण्डलपर तेज दमकने लगा। उन्होंने पहले जोशीली आवाज़में 'रासो' की निम्न पंक्तियाँ कहीं—

खुरासान मुलतान खंधार मीरं ।
बलख स्यो बलं तेग अच्चूक तीरं ।।
रुहंगी फिरंगी हलब्बी सुमानी ।
ठटी ठट्ठ भल्लोच ढालं निसानी ।।
मजारी-चषी मुक्ख जंबुक्क लारी ।
हजारी हजारी हुंके जोध भारी ।।

और फिर उसी लहजेमें बोलना जारी रखा, "मैं वीर रसके फड़कते हुए ऐसे ही कवित्त और सवैये लिखूँगा जिन्हें सुनकर हर भारतवासी कमर कसकर युद्ध-क्षेत्रमें उतर पड़े, जिन्हें सुनकर वीरोंकी तलवारें उनके मरनेके बाद भी रुकें नहीं और उछल-उछलकर दुश्मनोंके सिरोंको गाजर-मूलीकी तरह बँदारती रहें। मैंने कई देशोंके मज़बूत गढ़ोंको ग़ौरसे देखा है—मैं उन सबसे अधिक मज़बूत गढ़ हर नगरमें बनवा दूँगा। यही नहीं मैं सारे नगरोंके चारों ओर मज़बूत दीवारें बना दूँगा जिन्हे तोड़कर भीतर घुसनेकी दुश्मन कल्पना भी नहीं कर सकेगा, और मैं····!"

फ़ौजी अफ़सरने बड़ी मुश्किलसे अपनी हँसी रोकी और चेहरेपर भरपूर गम्भीरता क़ायम रखते हुए टोककर कहा, "लेकिन महाकवि यह भूल रहे हैं कि यह बीसवीं सदी है, बारहवीं नहीं। आज तलवारोंका युद्ध नहीं, अणु और परमाणु बमोंका युद्ध है, शत्रुको स्वयं आकर क़िलेकी दीवार नहीं तोड़नी पड़ेगी····वह अपने घरमें बैठा-बैठा ही एक रॉकेट छोड़ेगा जो एक दो नगर नहीं समूचे देशको नष्ट करनेके लिए पर्याप्त होगा !"

यह देखकर कि अपने वक्तव्यका एक शब्द भी कवि नहीं समझ पा रहे हैं, दोनों फ़ौजी अफ़सरोंने परस्पर एक ऐसी भाषामें विचार-विमर्श किया जिसका एक अक्षर भी महाकवि नहीं समझ सके। इसके बाद उसी दुबले-पतले अफ़सरने कहा, "अगर आपत्ति न हो तो कविवर हमारे साथ चलें और सारी स्थितिको स्वयं अपनी आँखोंसे देखकर निर्णय करें कि वे किस रूपमें हमारे सहायक सिद्ध हो सकते हैं।"

चन्दने इस प्रस्तावपर पलभर विचार किया और फिर स्वीकृतिमें सिर हिला दिया। कार दौड़ पड़ी और कुछ ही मिनटों बाद एक सादी क़िस्मकी इमारतके सामने रुकी। सैनिकोंने एड़ियाँ मिलाकर सैल्यूट किया। इमारतके भीतर एक काफ़ी बड़े कमरेमें पहुँचकर दोनों अफ़सर रुके। दुबले-पतले अफ़सरने महाकविको कुर्सीपर बैठनेका इशारा किया और स्वयं सामने दीवारपर लगे एक सफ़ेद परदेके पास पहुँचा। फिर महाकविकी ओर मुड़कर कहा, "मैं यहीं बैठे-बैठे आपको आजके युद्धकी कुछ झलकियाँ दिखाता हूँ। इन्हें देखनेके बाद आप स्वयं ही निर्णय करें कि आप किस रूपमें हमारी सहायता कर सकते हैं।"

अफ़सरने परदेके नीचे लगे एक बटनको दबाया तो परदेपर हल्का प्रकाश फैल गया। फिर उसने एक दूसरे गोल हैण्डिलको दाहिनी ओर घुमाना शुरू किया। शुरूमें परदेपर कुछ धुँधली आकृतियाँ उभरीं। जब वे स्पष्ट हो गयीं तो कविने देखा—एक छोटी-सी पहाड़ीकी ओटमें कुछ सैनिक बन्दूकों और मशीनगनोंसे लैश सतर्क खड़े हैं। पहाड़ीसे कुछ दूर एक मैदानके आख़िरी छोरपर एक लम्बी खाईके भीतर दूसरे सैनिक छिपे हुए हैं—उसी तरह बन्दूक़ों और मशीनगनोंसे लैश। खाईके आगे मिट्टीकी क़रीब दो-ढाई फ़ुट ऊँची दीवार बनी हुई है। रह-रहकर कभी एकाध सिर खाईसे ऊपर उठता और एकाध फ़ायर होते—कभी पहाड़ीके पीछेसे एकाध सिर ऊँचा उठता और फ़ायर होते।

कविको एक ओर जहाँ बन्दूक़ोंकी नलीसे निकली आगसे और धड़ाकेकी आवाज़से आश्चर्य और दहशत-सी होती वहीं उन्हें इस बातसे झुँझलाहट भी हो रही थी कि वे कायरोंकी तरह छिपे हुए क्यों हैं। आख़िर जब उनसे अधिक सहन नहीं हुआ तो वे कुर्सीसे उठते हुए बोले, "कायर कहीके! छिप-छिपकर लड़ते हैं! आख़िर ये सामने आकर दो मिनटमें फ़ैसला क्यों नहीं कर लेते?"

महाकविने अभी अपनी बात पूरी भी नहीं की थी कि परदेपर एक

ज़ोरका धमाका हुआ, लगा मानो पहाड़ीपर अचानक बिजली टूट गिरी हो····धड़····धड़····धड़ाम्की आवाज़ोंके साथ पहाड़ीसे टूट-टूटकर छोटे-बड़े पत्थरोंके ढोंके उछल रहे थे····धुएँके एक गुब्बारसे आसपासका सब कुछ ढँक गया था····और मिनट भरके बाद जब धुआँ साफ़ हुआ तो महाकविने देखा कि पहाड़ीकी जगह छोटे-छोटे पत्थरोंके टुकड़े बिखरे पड़े हैं और उनके ऊपर-नीचे सैनिकोंकी लाशें पड़ी हैं—कुछ पूरी तरहसे जल गये थे, कुछके हाथ-पाँव कटकर अलग जा पड़े थे तो कुछके सिर। यह भयानक नज़ारा देख बग़ैर एक शब्द भी मुँहसे निकाले कवि अपनी कुर्सीपर बैठ गये।

फ़ौजी अफ़सरने हैण्डिल घुमाकर फिर परदेपर अँधेरा कर दिया और हताशसे कुर्सीपर बैठे कविकी ओर मुड़कर शान्त आवाज़में कहा, "यह आजके युद्धका सबसे छोटा और आमरूप है जो अक्सर दो बहुत छोटे-छोटे देशोंके बीच सीमा-सम्बन्धी मामूली झगड़ोंको लेकर आये दिन दिखायी देता रहता है। इसे हम युद्धका पहला स्टेज कह सकते हैं। अब हम युद्धके कुछ अधिक बड़े रूप या उसके दूसरे स्टेजको देखेंगे।"

इस बार परदेपर आस्मानमें उड़ते हुए चीलनुमा कुछ हवाई जहाज़ दिखायी दिये। कुछ दूर तक एक क़तारमें उड़नेके बाद वे नगरके ऊपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने चीलकी तरह नीचेकी ओर एक गोता लगाया, उनकी पेंदीका ढक्कन खुला और छेदमें-से निकलकर हाथीकी सूँड जैसी लम्बी और गोल आकारकी कोई काली-सी चीज़ नीचेके मकानोंपर गिरी···· एक और गिरी, तीसरी और चौथी भी गिरी और उसके बाद फुर्तीसे वे पाँचों हवाई जहाज़ आस्मानमें फिर ऊँचे उठ गये।

नीचे कवि चन्दने जो कुछ देखा उससे घबराकर उन्होंने दोनों हाथोंसे अपनी आँखें बन्द कर लीं। रातके समय निद्रा देवीकी सुखद गोदमें सोये हुए नगरमें जैसे अचानक किसीने पेट्रोल छिड़क कर आग लगा दी हो। रातके गाढ़े अँधेरेको चीरकर अनेक मकानोंसे उठती लाल-लाल लपटें बड़ी

भयानक लगती थीं। कई मकान यों गिर रहे थे मानो किसी दैत्यने अपने बलिष्ठ हाथोंसे झकझोरकर उन्हें गिरा दिया हो। जलते और गिरते मकानों से निकल-निकलकर लोग पागलोंकी तरह चीखते-चिल्लाते इधर-उधर भाग रहे थे। बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ, रोगी और अपाहिज़—ऐसे जो स्वयं निकल भागनेकी स्थितिमें नहीं थे, वे वहींसे सहायताके लिए चिल्ला रहे थे। एक अजीब-सा हौलनाक नजारा था।

कविके मुँहसे अस्फुट बुदबुदाहट-जैसे शब्द निकले—"उफ़! यह युद्ध है या कत्लेआम? ये औरतें, ये बच्चे, ये बूढ़े...." और आगेके शब्द कविके होठोंमें ही फुसफुसा कर रह गये।

फ़ौजी अफसरने पास आकर बहुत मुलायमियतसे कविके कन्धेको अपने दाहिने हाथसे दबाया और कहा, "आप तो अभीसे हताश होने लगे महा-कवि, जब कि अभी तो हमने केवल दो ही स्टेज देखे हैं। आप कहें तो यहीं बस कर दूँ?"

"नहीं, मैं इस नारकीय दृश्यको पूरा देखना चाहता हूँ—अखीर तक।" और कवि कुर्सीपर सँभलकर सीधे बैठ गये।

तीसरी बार कविने परदेपर देखा एक बहुत बड़ा नगर—गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ हैं, पक्की चौड़ी सड़कें जिनपर कारों और बसोंकी लम्बी कतारें हैं, हज़ारों ही नहीं बल्कि लाखोंकी संख्यामें लोग आ-जा रहे हैं, कल-कारखानोंमें काम कर रहे हैं, दूकानों और बाज़ारोंमें सामान ख़रीद-बेच रहे हैं, बच्चे स्कूलोंके आँगनमें खेल रहे हैं। इसके पूर्ववाले हौलनाक दृश्यके तुरन्त बाद जीवन और आनन्दसे विहँसते इस दृश्यको देखकर कविने अभी राहतकी साँस ली भी नहीं थी कि हल्की घरघराहटकी आवाज़के साथ सुदूर क्षितिजकी गोदसे उभरता एक हवाई जहाज़ दिखाई दिया। क्रमशः उसकी आवाज़ तेज़ होती गयी और आकार बड़ा और स्पष्टतर। आखिर वह नगरके ऊपर आ पहुँचा। लोगोंकी कुतूहलपूर्ण और कुछ-कुछ भयभीत निगाहें उसकी ओर उठी हुई थीं। अचानक उसने गोता लगाया और वैसी

ही एक गोल-गोल कुछ लम्बी और काली-सी चीज़—मात्र एक—उसकी पेंदीसे निकलकर सर्राटेसे नीचेकी ओर चली। दूसरे पल एक भयानक, कानके परदे फाड़ देनेवाला, धमाका सुनकर कवि अनायास अपनी कुर्सीसे उछल पड़े। आँखें फाड़कर उन्होंने देखा—परदेपर ज़मीनसे लेकर मीलों ऊँचा गाढ़ा-गाढ़ा धुएँका अम्बार, और कुछ नहीं, महज धुएँका एक विशालकाय बादल; और दूसरे पल लगा जैसे समूचे नगरको एक डरावना भूकम्प अपनी दोनों हथेलियोंपर उठाकर ज़ोर-ज़ोरसे हिला रहा है। वे गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ ताशके पत्तोंसे बने घरोंकी तरह धराशायी हो रही थीं, नगरका शायद ही कोई ऐसा कोना हो जिसमेंसे आगकी लपटें और धुएँके बादल नहीं उठ रहे हों। सड़कोंपर कमर जितना पानी भर गया था मानो प्रलय आ गया हो, हज़ारों लोग मकानोंके नीचे दबे हुए थे, हज़ारों जल रहे थे और हज़ारों ही पानीमें बहे जा रहे थे, जो जीवित थे भी उनमेंसे बहुतोंके अंग-भंग हो चुके थे और चेहरे तो सभीके काले हो गये थे और वस्त्र फट गये थे और जगह-जगहसे ख़ून बह रहा था और सुनायी दे रही थी केवल चीख़ें और चीख़ें और चीख़ें !

चन्द बरदाई पागलकी तरह परदेकी ओर झपटे कि उसके चिथड़े-चिथड़े कर दें····लेकिन आधे रास्तेमें ही फ़ौजी अफ़सरने उन्हें रोका, और एक तरहसे वह उन्हें अपनी बाहोंके घेरेमें लेकर कुर्सी तक लाया, बैठाया और बगलवाली कुर्सीपर स्वयं बैठते हुए कहना शुरू किया, "अभी आपने जो कुछ देखा है वह कल्पना या मात्र भावी सम्भावना ही नहीं है, यह आजसे १५ साल पहले घटी दुर्घटनाका सच्चा चित्र है। यह केवल एक परमाणु बम था जिसने एक लाखसे अधिक मनुष्योंको कुछ ही पलोंमें जानसे मार डाला था और उस ज़मीनको कुछ ऐसी बाँझ बना डाला था कि वर्षों तक उसपर कुछ भी पैदा नहीं हुआ और जिसके कुप्रभावसे आज, १५ वर्षों बाद भी, अनेक बच्चे अपनी माँके पेटसे ही अपाहिज पैदा होते हैं।"

रुककर फ़ौजी अफ़सरने, उस शीतताप-नियन्त्रित कमरेमें भी, अपने

माथेपर झलक आये पसीनेको पोंछा और फिर कहना शुरू किया—"यह आजसे १५ वर्ष पहलेकी बात है। इस बीच हमारा विज्ञान चुप नहीं बैठा रहा है। उसके उपजाऊ मस्तिष्कने विनाशके और अधिक घातक शस्त्र ईजाद किये हैं—इस परमाणु बमसे हज़ारों गुने अधिक डरावने और विध्वंसक....ऐसे कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते....यानी यह जो बहुत बड़ी पृथ्वी आप देख रहे हैं ऐसी-ऐसी दस पृथिवियोंको छोटेसे गेंदकी तरह रसातलमें पहुँचा दें इतने अधिक बम आज केवल एक देशके पास मौजूद हैं। यही नहीं, आज ऐसे-ऐसे रॉकेटोंका निर्माण हो चुका है जिनमें आप ऐसे किसी एक बमको—साक्षात् मृत्युको—रखकर अपने घरमें बैठे हुए ही दुनियाके जिस कोनेमें चाहें ठीक वहाँ, एक-दो इंच भी इधर-उधर नहीं, पहुँचा सकते हैं—और वह भी कुछ ही मिनटोंमें। आज समूची मानवता एक ऐसे पहाड़की नोकपर खड़ी हुई है जहाँ कहींसे भी, किसी ओरसे भी, एक ज़ोरदार धक्का लगनेपर, फिर उसे विनाशके अतल गर्त्तमें गिरनेसे कोई नहीं बचा सकता। यों हवाके छोटे-मोटे झोंके उसे अब भी लगते ही रहते हैं लेकिन चूँकि वह परिणामसे बखूबी वाक़िफ़ है, इसलिए पहाड़की खतरनाक चोटीपर अपना सन्तुलन बनाये रखनेमें पूरी तरह सतर्क है। अपने देशको भी आज सीमा-सम्बन्धी मामूली झोंके लग रहे हैं जिन्हें वह आसानीसे झेल सकता है। और अगर कोई ज़ोरदार धक्का लगा तो फिर अपने देशकी क्या बात! तब तो यह समूची पृथिवी ही यों मिट जायगी मानो कभी इसका अस्तित्व ही नहीं था।"

महाकवि चन्द खामोश बैठे थे, अब ख़ामोशीसे उठ खड़े हुए। फ़ौजी अफ़सरने भी साथ-साथ उठते हुए कहा, "अगर महाकवि चाहें तो इधर १५ वर्षोंमें हुए विज्ञानके नवीनतम संहारक शस्त्रोंकी भी एक झलक दिखला दूँ?"

चन्द अब भी ख़ामोश थे मानो उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। लगता था, उनकी सोचने और महसूस करनेकी शक्तियोंको जैसे लकवा मार गया हो।

उनके चेहरेपर मुर्दनी छायी थी और मुर्दा क़दमोंसे जब वे इमारतके मुख्य-द्वारसे निकलकर बाहर खड़े अपने घोड़ेपर बैठने लगे तो फ़ौजी अफ़सरने तनिक हँसते हुए कहा, "आशा है, कवि स्वर्गमें यह ख़बर पहुँचा देंगे कि वह दिन दूर नहीं जब हमारे इस मर्त्यलोकसे छोड़े हुए हाइड्रोजन बम-वाहक रॉकेट आपके स्वर्गकी सीमाओंको पार कर वहाँ भी पहुँच जायें और आपके अमरोंके लोकको भी मर्त्यलोकमें बदल दें।"

कविने इस बार भी कुछ जवाब नहीं दिया।

एकालाप

पत्थरका लैम्प-पोस्ट

पत्थरका लैम्प-पोस्ट

नींद नही आती। मैं सोना चाहता हूँ, सोकर भूल जाना चाहता हूँ, पर नींद है कि नहीं आती, नहीं आती। शायद इसलिए कि मेरी पथरीली देहमें बुढ़ापेकी झुरियाँ उभर आयी हैं। या मुमकिन है इसलिए कि वह बूढ़ा जगनू अपनी खटियाके झँगोलेमें दुहरा पड़ा हर साँसके साथ ऐंठ-ऐंठकर खाँसता है और हर खाँसीके साथ ऐंठ-ऐंठ जाता है और उसकी हर खाँसी कालू लुहारके हथौड़ेकी तरह मेरे पथरीले दिमागपर ठनाक्-ठनाक् बजती है और नींदके डैने फड़फड़ाकर उड़ जाते हैं। या शायद इसकी वजह सुबह-वाली वह हौलनाक बात हो जो पुजारीजीके बेटे भोलाने उँगलियोंके पोरोंमें लगा जलेबीका रस चाटते हुए जगनू हलवाईकी दूकानपर बैठे-खड़े लोगोंसे कही थी। उफ़, वह खौफ़नाक बात! क्या सचमुच, क्या सचमुच····मैं आगे सोच नहीं पाता। मेरी पथरीली धमनियोंका रक्त मौतके पगोंकी धप्-धप् सुनकर जैसे सहम गया हो, सहमकर ठिठक गया हो!

चौपड़के चौकोर घर-सा यह चौराहा और चारों ओर चार भुजाओं-सी फैली ये चार गलियाँ! बायीं गलीके नुक्कड़पर जीतमल पन्सारीके उकड़ूँ बैठे हुए-से घरके चबूतरेसे सटा हुआ आज पचास वर्षोंसे मैं खड़ा हूँ। दाहिनी गलीके नुक्कड़पर भुतहा मकान है—बरगदकी बूढ़ी जटाओं-सा फैला पसरा हुआ। नीचे दो दूकानें हैं—जगनू हलवाईकी दूकान उसीकी तरह बूढ़ी और जर्जर; और सिनेमा-तारिकाओंके चित्रों और एक बड़े दर्पणसे सजी हुई मटरूकी उसी जैसी जवान पानकी दूकान। सामने दूर तक पसरा रास्ता जिसके अन्तिम छोरपर मेरा एक छोटा बिरादर जवानीमें ही आ रही मौतकी आशंकासे डरा खड़ा है, और इस छोरपर शानसे अकड़ी कलकतिया सेठकी नयी हवेली जिसके चबूतरेपर अपना खुला मुँह नीचे लटकाये नलका

नया बम्बा खड़ा है। चौराहेकी पीठवाली भुजाके अन्तमें लक्ष्मीनारायणजी का बगुले-सा श्वेत मन्दिर है जहाँसे सुबह-शाम आरतीके घण्टे, घड़ियाल और नगाड़ोंका रव उभरकर कंगूरोंपर बैठे गुटरगूं करते कबूतरोंको उड़ा देता है और मोहल्लेके बच्चों-बूढ़ोंको चुम्बककी तरह खींचकर अपने भीतर समो लेता है।

कलकतिया सेठकी दुल्हन-सी नयी नवेली हवेली, बूढ़े बरगद-सा डरावना भुतहा मकान, जीतमल पन्सारीका वह उकड़ूं बैठा-सा घर, जगनू हलवाईकी उसी जैसी बूढ़ी झुर्रियाँ पड़ी दूकान, मटरूकी मधुबाला-सी सजी-बजी पानकी दूकान, यह नलका चौतरा, कबूतरोंकी गुटरगूंसे मुखरित यह श्वेत मन्दिर—ये सब मेरी मूक जीवन-यात्राके हमराही रहे हैं। लेकिन, कलसे····

कल ! आह यह 'कल' मेरे पथरीले दिमाग़की शिराओंपर ठमाक्से गिरता है। बस सिर्फ़ एक रात और ! महज़ आजकी रात और !! और कल····फ़ाँसीके क़ैदीकी तरह मेरी देहका रोआँ-रोआँ एक अनबूझ आसन्न भयसे काँप-काँप जाता है। मेरी धमनियोंका रक्त रेसके घोड़ोंकी तरह दौड़ रहा है। कड़ाहीमें चढ़े तेलकी तरह खौल रहा है। मेरी बूढ़ी आँखोंमें आज जाने कहाँकी चमक आ गयी है, इन्द्रियाँ जैसे किसी अजानी शक्तिका स्पर्श पाकर अधिक तीखी, अधिक संवेदनशील हो उठी हैं। सामनेवाली भुजाके उस छोरपर साँझके धुँधलकेमें भी बूढ़ा मँगरू मुझे साफ़ दीख रहा है। मेरे छोटे बिरादरके सीनेसे सीढ़ी टिका वह काँपते पाँवों ऊपर चढ़ता है, काँपते हाथों उसके मुँहका ढक्कन उठाता है, बत्ती उकसाता है और माचिसकी काँटीसे उसमें प्रकाशका जीवन फूँक देता है। गलीके उस नुक्कड़ का अँधेरा मटमैले उजाससे जैसे धुल उठता है।

सरके ऊपर टप्से कुछ गीला-गीला गिरता है। आँख ऊपर उठायी तो देखा जीतमलकी बहूके चौबारेके कंगूरेपर बैठा कबूतर-कबूतरीका जोड़ा गुटरगूँ-गुटरगूँ जप रहा है। माथा झटककर मैंने फिर निगाह सामने

फैलायी—कन्धेपर सीढ़ी उठाये और अपने आठ बरसके पोतेकी उँगली पकड़े मँगरू यूँ धीमे क़दमों चला आ रहा था जैसे उसके कन्धेपर सीढ़ी नहीं किसी अज़ीज़का जनाजा हो।

मँगरू आज ग़ैरमामूली तौरसे चुप-चुप है। हमेशा उसके होठोंपर किसी गीतकी कड़ी रहती थी, आज उनपर जैसे कोई बोझ बैठा है। उसका पोता चौराहेपर पड़े पेड़े और गुलगुलोंकी ओर हौलेसे बढ़ रहा है। पर उसके बाबाकी डाँट आज सुनाई नहीं देती। तो क्या मँगरूके भी दिलके किसी कोनेमें इस बातका ग़म है कि कलसे····आह, फिर लुहारका वही भारी हथौड़ा—कल! मंगरूके हाथोंका स्पर्श मुझे इतना सुकून देता है, देता रहा है। अब वह सुकून मुझे नहीं मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा!

मुझे याद है, अच्छी तरह याद है—हालाँकि पचास वर्ष गुजर चुके—कि मेरी गोल-मटोल, रंगसे चमचमाती चिकनी देहको अपने पुष्ट कन्धोंपर उठाये यही मँगरू तो यहाँ लाया था। इसीने तो गहरी नींव डालकर बड़ी ममतासे मेरी स्थापना की थी। मोहल्ले-भरमें उछाहकी तरंगें हिलोर गयी थीं, मानो अयोध्यामें राम आ गये हों। जीतमलकी अम्माने तो मुझे रोली चावलसे पूजा भी था। आखिर उस अँधेरे मोहल्लेके लिए मैं एक नयी आशा, नयी ख़ुशी, नये प्रकाशका सन्देश लेकर आया था! मंगरूका पठार-सा चौड़ा और पहाड़-सा उभरा सीना गर्वसे और फैल गया था, फूल उठा था। उसके हाथ काँप रहे थे, लेकिन खुशी से। मेरे कुँआरे होठोंपर जलती काँटी इसीने छुआयी थी।

मँगरूके हाथ आज भी काँप रहे हैं। लेकिन आज खुशीसे नहीं, गम से। चेहरेकी झुर्रियोंमें अगाध व्यथा छिपाये वह चुप है कि कहीं एक शब्द भी उसके दर्दके कटोरेको छलका न दे। एक बार मेरी खुरदुरी देहको

अपनी बूढ़ी हथेलियोंसे थपथपाकर वह मन्दिर ओर वाली भुजापर बढ़ जाता है। उसकी दूर होती नंगी पीठको अपनी जलती आँखकी लौ-से मैं टुकुर-टुकुर देखता रहता हूँ—असहाय-सा, लुटा-लुटा-सा !

अब मँगरू नहीं आयेगा। फिर कभी नहीं आयेगा। ठक्-ठक्-ठक् ! ठक्-ठक्-ठक् !! गलीवाला सुनार अपनी हथौड़ीसे मेरे पथरीले दिमाग़ पर लगातार चोटें मार रहा है। नहीं आयेगा, नहीं आयेगा ! ठक्-ठक् ठक् !! उधरका कालू लुहार भी अपने भारी हथौड़ेसे मेरे पथरीले दिमाग़ पर बँधी हुई चोटें मार रहा है—नहीं आयेगा, नहीं आयेगा ! ठक्-ठक् ठक् ! ठक्-ठक्-ठक् !! मेरी धमनियोंका रक्त जैसे गलते हिमालयकी बर्फ़सा सर्द पड़ चलता है।

बूढ़ा जगनू आज बुरी तरह खाँस रहा है। खाँसीके मारे उसके हाथ काँप रहे है। बार-बार कोशिश करके भी वह दूकानका ताला बन्द नहीं कर पाता। आखिर थककर दूकानकी साँकल हाथमें पकड़े वह धम्से वहीं बैठ जाता है, और दुहरा होकर खाँसने लगता है। मटरू अपनी पान दूकानमें ताला लगा चुका है और अब घनी मूँछोंमें अटकी पानकी पीककी बूँदें हथेलीसे पोंछता, बूढ़े जगनूकी ओर हिकारत भरी निगाहोंसे देखता खड़ा है। मन्दिरवाली गलीसे ऊँटोंका काफ़िला आता दीख रहा है। ऊँट अपनी जीभोंको ढोलकी तरह फुलाये, झाग उगलते, बलबला रहे हैं। मैं आँख झपझपाकर फिर विचारोंमें खो जाता हूँ।

अचानक जीतमलके उकड़ूँ बैठे घरकी पोलीमें परिचित पगोंकी आहट सुनाई देती हैं। दरवाज़ा खुलता है और हाथमें दिया लिये अर्द्ध-चन्द्राकार झुकी बुढ़िया बाहर निकलती है। वह होंठों-ही-होंठोंमें गुनगुना रही है :

> **"साँझ पड़ी दिन आथण लाग्यो,**
> **गायाँ का गवालिया घर हेरा ओ रामजी !"**

बुढ़िया दरवाज़ेके बायीं ओर आलेमें दिया रख देती है और चबूतरेपर

आलथी-पालथी बैठ, माला फेरती हुई, गुनगुनाती जाती है : "साँझ पड़ी........"

तभी नयी हवेलीकी पोलीसे आहट आती है। दरवाज़ा खुलता है और सेठके बेटेकी जवान बहू देहरीपर दिखायी देती है। पाँव बाहर रखते ही वह घूँघट खींच लेती है। बुढ़ियाको बैठी देख एक बारको ठिठकती है, फिर दियेको आँचलकी ओटकर धीमे क़दमों चौराहेकी तरफ़ बढ़ती है। चौराहेके ठीक बीचमें गुड़की एक डली और दीया रख फुर्तीसे वापस लौटने लगती है कि सहसा बुढ़ियाका भजन रुक जाता है। दाहिनी हथेली माथे तक उठती है, आँखें मिचमिचाती हैं, गोया वह पहचाननेकी कोशिश करती हो। "कौन है री ? रामलेकी बहू है क्या ?"

सेठजीकी पुत्रवधू जवाब नहीं देती। बुढ़ियाका पोपला मुँह जल्दी-जल्दी चलने लगता है : "अरी तू कैसे बोलेगी ? चौराहा पूजने आयी है न ! रांड पूत खिलायेगी ! खसम मुँह नहीं देखना चाहता तो पूत कहाँ-से जने !"

नयी हवेलीका दरवाज़ा बन्द हो जाता है। घण्टे, घड़ियाल और नगाड़ोंके सम्मिलित स्वरमें बुढ़ियाकी बड़-बड़ाहट डूब जाती है। आरती खत्म होनेपर हाथोंमें परसाद लिये बच्चे आते हैं और बुढ़ियाको घेर लेते हैं : "दादी कहानी सुना, दादी कहानी सुना !" बुढ़िया झुँझलाकर बड़-बड़ाती हुई खड़ी होने लगती है। बच्चे लिपटते हैं। मोहल्लेकी दादी और ज़ोरसे बड़बड़ाती है, दायें-बायें हाथ चलाती है और बड़ी मुश्किलसे घुटनों पर हाथ टेककर खड़ी हो पाती है। उसका पोपला मुँह उसी तेज़ीसे चल रहा है। बच्चे तालियाँ पीटते हैं, उछलते हैं, हँसते हैं, चीखते हैं।

जीतमल पंसारीके घरका दरवाज़ा भी बन्द हो जाता है।

बायीं गलीमें भारी पगोंकी धप्-धप् सुनायी देती है। फिर "**भूत-पिशाच निकट नहीं आये, महाबीर जब नाम सुनाये,**" के धीमे-धीमे बोल सुनायी देते हैं। इसके बाद ज़ोरसे 'बजरंग-बजरंग' की आवाज़ दो

बार सुनायी देती है। मैं समझ जाता हूँ कि जीतमल पंसारी दूकानसे लौटा है। यह कुँआ, यह चौराहा और बगलका यह भुतहा मकान—जीतमलके दिलके कोनों-अन्तरों तकमें इनके प्रति बचपनसे ही एक अज्ञात भय समा चुका है। इसीलिए कुएँके निकट आते ही वह अपने बेटे बजरंगको पुकारने लगता है और उसकी बूढ़ी माँ पहलेसे ही पोलीका दरवाज़ा खोलकर खड़ी हो जाती है।

अँधेरा गहराता जाता है। भुतहा मकानके आँगनमें पीपल अपनी हज़ार आँखोंसे नीचे चौराहेकी ओर ताक रहा है। दियेकी आख़िरी साँसें चल रही हैं। अचानक पीपलकी डालियोंके बीच चीलके पंखोंकी फड़फड़ाहट सुनायी देती है, पत्तियाँ हिलती हैं और दिया फ़क्से बुझ जाता है। रात ख़ामोश है। ऊपरकी ओर फुसफुसाहटकी आवाज़ होती है। मैं एड़ियाँ उठाकर उचकता हूँ : चौबारेकी खिड़की खुली है। भीतर बजरंग अपनी नयी बहूको सिनेमासे सीखे प्यारके नये-नये पोज़ सिखानेकी कर रहा है, और वह बेचारी लाजमें सिमटी जाती है। उधर नयी हवेलीमें सेठकी पुत्रवधू बगलमें तकिया दबाये पलंगपर पड़ी है और पड़ौसकी पुरोहितानी जीसे रोमांसके क़िस्से सुन रही है।

दायीं ओर कुम्हारोंकी गलीसे पागल बिरजू बिल्लीकी तरह दबे पाँवों आता है और चौराहेसे गुड़की डली उठाकर चुपकेसे भुतहा मकानके टूटे दरवाज़ेमें गायब हो जाता है। दूर स्टेशनसे सीटीकी चीख़ आती है। फिर इञ्जनकी भक्-भक् फक्-फक्।····तो दस बज गये! मेरे गलेकी गहराइयोंसे एक सर्द आह निकलती है। मैं सोना चाहता हूँ कि मेरी पथरीली देहकी तनी हुई नसें कुछ सुकून महसूस करें, पर नींद जैसे आँखोंसे उड़ चुकी है। फाँसीके क़ैदीकी आख़िरी रात!····

मैं सिहर उठता हूँ।

सामनेवाले रास्तेके छोरपर भोला दिखाई देता है। एक हाथमें लालटेन, दूसरेमें लट्ठ। यह भोला रोज़ रातको इसी समय अपनी स्टेशनकी पान-दूकानसे लौटता है। चौराहेके पास पहुँचते-पहुँचते उसका निडर मन भी अज्ञात भयसे सिहर उठता है। उसके दिलकी धड़कन बढ़ जाती है। चौराहा दो कदम पीछे छूटा नहीं कि सहसा पीपलका पेड़ ज़ोरसे हिल उठता है। पत्तोंके भीतर घोंसलेमें बैठी चील चीखकर टिटकार उठती है। अँधेरे कोनों-अन्तरोंमें चिपके हुए चमगादड़ पंख फड़फड़ाकर उड़ते हैं, घूरेपर पलोटते गधे ढीचूँ-ढीचूँकी हाँक लगाते हैं और नालियोंमें पञ्जोंमें मुँह दबाये पड़े कुत्ते अपने थूथन आसमानकी ओर उठा एक स्वरसे रो उठते हैं। ये तमाम आवाज़ें और उनकी गूँज अभी हवाके पंखोपर तैर ही रही होती हैं कि बस्तीके बाहर कँटीले बैरके जंगलसे गीदड़ोंकी हुआँ-हुआँ, मोरकी पिऊ-पिऊ और उल्लूकी टुहू-टुहूकी आवाजें इनका जवाब देती हैं। कुछ क्षणोंके लिए इन विचित्र आवाज़ोंके सम्मिलित कोलाहलसे रातकी ख़ामोश फ़िज़ा पाश-पाश हो जाती है।

भोलाकी पकड़ लाठीपर मजबूत हो जाती है और पैर जल्दी-जल्दी उठने लगते हैं। वह एक बार भी पलटकर देखे बिना मन-ही-मन हनुमानचालीसा जपता आगे बढ़ता जाता है। मैं गर्दन बढ़ाकर देखता हूँ, भुतहा मकानके आँगनमें पीपलकी ओटमें खड़ा पागल बिरजू मुँहपर हाथ रखे हँस रहा है।

फिर सब खामोशीके दामनसे ढँक जाता है।

मैं जानता हूँ कि यही भोला सुबह जगनूकी दूकानपर जलेबी खाते हुए गढ़-गढ़कर भूतोंके खौफ़नाक किस्से सुनायेगा कि रातमें स्टेशनसे लौटते समय कैसे उसने चौराहेपर पहले एक सफेद गाय देखी, फिर वही गाय काली भैंसमें बदल गयी, वह और थोड़ा निकट आया तो भैंस काली बिल्ली बन गयी, फिर बिल्लीके शरीरसे आगकी लपटें निकलने लगीं, आग ऊँची और ऊँची उठती गयी, यहाँ तक कि उसने पीपलके पत्तोंको छू लिया और जब भोलाने लट्ठ उठाकर ज़ोरसे बजरंगबलीका नाम लिया और जेबसे लोहेकी तालियों

का गुच्छा निकालकर हाथमें ले लिया तो सब एकदम शान्त हो गया। सिरसे पैर तक सफेद कपड़ोंमें लिपटा, पीपलके पेड़ जितना ऊँचा, एक भूत उसके सामने खड़ा था। उसने कहा....."भाग जाओ।" और वह तुरन्त भाग गया।....बेचारा भोला! उसे क्या पता कि कोई है जो उसके राजसे अच्छी तरह वाकिफ़ है।

बारह बजे मन्दिरमें लक्ष्मीनारायणजीके पौढ़नेका घण्टा बजता है। सेठकी नयी हवेलीसे सफ़ेद चादरमें लिपटी एक आकृति बाहर निकलती है और ठिठुरते जाड़ेकी आधी रातमें चौराहेपर बैठकर विवस्त्रा नहाती है। पाँच मिनट बाद वही आकृति दो पेड़े, एक आटेका गोला और घीका दीया चौराहेपर रख जाती है। आज तीन सालसे बराबर देख रहा हूँ कि एक बार भी इस क्रममें व्यवधान नहीं आया। फिर भी उसकी गोद सूनी है। और मैं जानता हूँ कि उसकी गोद भर नहीं सकती। मैं यह भी जानता हूँ कि उसे हिस्टीरियाके दौरे पड़ते हैं। मुँहमें झाग, आँखें लाल, वह अण्ड-बण्ड बकने लगती है, तो घरके लोग घबरा जाते हैं, समझते हैं बहूको भुतनी लग गयी है। ओझा उसकी उँगली ऐंठता है, झोंटा खींचता है, नाकमें लाल मिर्चोंकी धूनी देता है, और भूतनी उतर जाती है। वह होशमें आकर पल्ला सँभाल लेती है। और मैं जानता हूँ कि दरअस्ल यह भूतनी है क्या! मैं भोलाका ही नहीं, सेठकी इस बदसूरत जवान पुत्रवधूका भी राज़दार हूँ।

रात बीत रही है। दूर तीनके घण्टे बजते हैं। कुएँपर चर्र-चूँका संगीत शुरू हो जाता है। मुझे महसूस होता है जैसे मेरे सीनेपर आरा चल रहा हो। मोहल्ला जगने लगता है। बूढ़ा जगनू लाठीके सहारे दुहरा झुका, दूकानपर आकर पलभर कमर सीधी करता है, फिर झाड़-पोंछ शुरू कर देता है। लोग घरोंसे निकल-निकल कर हाथमें लोटे लिये दिशा-फ़रागतके लिए दूर टीबोंकी ओर जाते दिखायी देते हैं। नलके चबूतरेपर कलशों और

घड़ोंका जमाव बढ़ने लगता है। ज़्यादातर औरतें होती हैं जो घूँघटके भीतर-से तेज़ झगड़ालू आवाज़में एक दूसरेसे बातें कर रही हैं। हाथमें बाजरेकी बासी रोटियोंके टुकड़े लिये, ठंढमें ठिठुरते हाथोंकी मुट्ठियाँ बगलमें दबाये, ठंडे घरोंसे बच्चे निकलते हैं और उगते सूरजकी किरणोंसे अपने जिस्मको गरमानेके लिए चबूतरेपर मेरे आस-पास आ बैठते हैं। जीभ लपलपाते और पूँछ हिलाते कुत्ते उनके इर्द-गिर्द मँडरा रहे हैं। सूरजका लाल गोला अभी क्षितिजकी जड़ोंसे आधा ही बाहर निकला है, उसकी किरणें अभी चबूतरे तक नहीं पहुँची हैं, वे मेरे सिरको ही छूती हुई मुसकरा-मुसकराकर मासूम बच्चोंको जैसे मुँह चिढ़ा रही है। एकाध नटखटिये उन मचलती किरणोंको पकड़नेके लिए मेरे जिस्मको अपनी ठंडसे नीली-पीली नन्हीं-नन्हीं हथेलियों और पग-थलियोंकी गिरफ़्तमें ले ऊपर चढ़ते हैं।····मुझे इनसे प्यार है, ठंडसे नीली-पीली इन हथेलियों और पग-थलियोंसे प्यार है—इसलिए कि मेरी पथरीली रगोंके जमे हुए ख़ूनमें उनका स्पर्श गति ला देता है, नया जीवन भर देता है।

कुत्तोंके निरीह पिल्ले अपने नन्हें और नरम नाख़ूनोंसे मेरी पिण्डलियोंको खरोंच-खरोंचकर मेरे घुटनोंपर चढ़नेकी असफल कोशिश करते हैं और गिर पड़ते हैं, फिर चढ़ते हैं और फिर गिर पड़ते हैं। मेरा जिस्म घुटनोंसे लेकर पैरके पंजोंतक बुरी तरह उघड़ गया है, चमड़ीके भीतरका काला-काला पथरीला गोश्त दिखाई देने लगा है। फिर भी मुझे इनपर ग़ुस्सा नहीं आता, ग़ुस्सा आता है तो इनके बड़ोंपर जो पेशाब करेंगे तो मेरी इन्हीं छिली हुई पिण्डलियोंके घावोंपर।

मैं सब देखता हूँ और कुछ भी नहीं देखता। सब सहता हूँ और कुछ भी महसूस नहीं करता। केवल मेरे कान सतर्क हैं—किन्हीं आहटोंको सुननेके लिए। भोला चटखारे ले-लेकर रातका क़िस्सा बयान कर रहा है। वह आवाज़को यथासम्भव इतनी ऊँची रखना चाहता है कि नलपर हिलते घूँघट सुन सकें। मटरूसे दो बीड़े बँगला पान लेकर, चूना चाटता हुआ

वह मेरी ओर डग बढ़ाता है, और मुझसे चार क़दमके फासलेपर रुककर चोंचनुमा मुँह ऊपर उठा, पिचसे पीकका सारा कीचड़ मेरी जाँघों और कमरपर सींच देता है। फिर मूँछोंमें उलझे पीकके छींटे बायीं हथेलीसे साफ़ करता हुआ वापस पान दूकानपर लौट जाता है और नये जोशसे सुनाना शुरू करता है।

मैं भन्ना उठता हूँ। इच्छा होती है आज भोलाका राज़ खोल दूँ, पगले बिरजूका राज़ खोल दूँ, जीतमलका राज़ खोल दूँ, सेठकी कुरूप पुत्र-वधूका राज़ खोल दूँ, अपनी पथरीली दीवारोंके फाटक खोल दूँ कि पचास वर्षोंसे क़ैद ये राज़ अरराकर बाहर निकल पड़ें। मैं ज़ोरसे चीखना चाहता हूँ, इतने ज़ोरसे कि मेरी देहके पत्थर चटखकर चूर-चूर हो जायें। मेरा मुँह खुलता है, थोड़ा और फैलता है, एक खौफ़नाक चीख मेरे मुँहसे निकलना चाहती है, निकलना ही चाहती है कि होठोंतक आकर एकदम रुक जाती है। मैं कानोंको कसकर ढक लेता हूँ। पर मौतके पैरोंकी धप्-धप् मेरे कानोंके परदे फाड़ती दिमाग़के तन्तुओं तक पहुँच ही जाती है।

मैं आँखें फाड़कर देखता हूँ, मुझसे क़रीब दुगुना लम्बा, चाँदी-सा चमकता, कदली जंघा-सा गोल बिजलीका खम्भा कन्धेपर उठाये भारी मूँछोंवाला एक जवान यमदूतकी तरह चला आ रहा है। उसके साथ हाथमें कुदाल लिये दूसरा यमदूत है। बच्चे दौड़ पड़ते हैं। घूँघट अँगुलियोंके सहारे ऊँचे उठ जाते हैं। भोलाकी महफ़िल भी उसी ओर मुख़ातिब हो जाती है।

मुझे लगा, साँस रुक रही है। नाड़ियोंका रक्त सर्द हो रहा है। देह कड़ी पड़ रही है। धप्-धप् की आवाज़ें निकट आती हुई भी मुझे धीमी सुनाई पड़ रही हैं।

यमदूतने कुदाल मेरी ठंडी पिण्डलियोंसे टिकाकर खड़ी की तब तक मेरे महसूस करनेकी ताक़त खत्म हो चुकी थी। मैं तब महज़ पत्थरका एक खम्भा भर था। सच मानिए, मुझे कुदालकी चोटें बिलकुल महसूस नहीं हुईं।

राजस्थानी विरह-चित्र

[राजस्थानी लोकगीत और लोक-जीवनकी परम्परामें]

पावस

शीत

ग्रीष्म

नीमके बिरवेके प्रति

पतंगके प्रति

काले कौएके प्रति

पावस : २

काश, मैं जाटनी ही होती !
मेरा पिय 'परदेश' तो न जाता !!
झिर झिर झरती बूँदों में
ओढ़नी कमर में लपेट
दिन भर खेतों में काम करती—
अपने पिय के साथ !
काश, मैं जाटनी ही होती !!

पावस : २

झिर झिर झरती बूँदों में
यह निगोड़ा नीम
कैसा विहँस रहा है !

इसकी ऊँची-ऊँची डालों पर
मेरी सखियों ने झूला जो डाला है
और मैं अभागिन
चौबारे पर गुमसुम खड़ी
झर झर आँसू ढाल रही हूँ ।

हाय, मैं कैसे झूलूँ ?
मेरा पिय
दूर देश
चाकरी पर गया है ।

भला, मैं कैसे झूलूँ !!

पावस : ३

ये चटख लाल
मखमल-सी मुलायम
बीर-बहूटियाँ थोड़े हैं
जो कि
बूँदों के साथ बरसी हैं !

ये तो मेरे
विरह-दग्ध हृदय की
रक्त बूँदें हैं
जो कि
आँसू बन
आँखों से ढलकी हैं ।

ये बीर-बहूटियाँ थोड़े हैं !!

पावस : ४

कैसा फूला-फूला है आज
—यह टीबा !
अपने अनगिन बालू-कणों के मुँह खोल
इन सावनी अमृत-बूँदों को
कैसे चाव से पी रहा है
—यह टीबा !
मुझे तो लगता है
ये अमृत-बूँदें नहीं
जलते हुए अंगार हैं
भला कैसे पी लेता है इन्हें
—यह टीबा !!

पावस : ५

घने घने मेघों की छाँव में
यह मोर
सुरंगे पंखों का चन्दोबा तान
रात भर नाचा है
—झूम झूम !

हाय, मैं कैसे नाचूँ ?
मेरा पिय
दूर देश
चाकरी पर गया है
—भला मैं कैसे नाचूँ !!

पावस : ६

मैं कब से
चौबारे पर खड़ी
तेरी बाट जोह रही थी
—ओ पूरब के बदरा !

आखिर तुम आये तो
बरसे
और चले भी गये
मैं वैसे ही
चौबारे पर खड़ी भींजती रही
तूने कुछ भी तो
संदेश नहीं सुनाया
मेरे पूरबवासी पिय का !

--ओ निष्ठुर पूरब के बदरा !!

शीत : २

मेरे छज्जे के नीचे
भर रात
गुटरगूँ के मिलन-गीत
गाता रहा है
—यह कबूतर-कबूतरी का जोड़ा !

सारी खिड़कियाँ-दरवाज़े बन्द कर
नयी रुई की रजाई में
दुबके रहने पर भी
भर रात
मेरे दाँत बजते रहे हैं
—कट-कट !!

शीत : २

इस जानलेवा ठण्ड में भी
रात तीन ही बजे से
मेरे चौबारे के नीचे वाला कुँआ
चर्र चूँ बोलने लगता है !

धरती की छाती फोड़
सत्तर हाथ गहरे कुँए से
पानी खींचते-खींचते
इस मालिन के हाथों में
गट्टे पड़ जाते हैं
फिर भी तो कितनी ख़ुश है
—यह मालिन !
इसका माली 'परदेश' तो नहीं गया !!

दोनों मिल कर
साथ-साथ डोल खींचते हैं
और जब थक जाते हैं तो
साथ-साथ हँस देते हैं
हाय, कितनी ख़ुश है
—यह मालिन !

ग्रीष्म : १

सब डर से फट फट
खिड़कियाँ-दरवाज़े बन्द कर रहे हैं
यह काली-पीली आँधी जो उठी है !

लगता है बालू के
पहाड़ के पहाड़
दौड़े चले आ रहे हों
और मैं हूँ कि बाहें फैलाये
इसे भेंटने को
चौबारे पर खड़ी हूँ
यह आँधी पूरब से जो आ रही है
जहाँ मेरा पिय गया है
—चाकरी करने !!

नीम के बिरवे के प्रति

इस घर की देहली को पार करने के पहले
मेरे इस छोटे से आँगन में
मेरे पिय ने
नीम का एक नन्हा-सा बिरवा लगाया था।

ब्राह्म मुहूर्त में
ताँबे के लोटे से
नीम के उस नन्हें से बिरवे के थाल में
पहली बार मेरे पिय ने जल ढाला था।

तब से
इसी ब्राह्म मुहूर्त में
इसी ताँबे के लोटे से
इस दिन-दिन बढ़ते नीम के बिरवे को
मैं निरन्तर जल पिलाती आई हूँ
मेरे पिय की यह जाते समय की निशानी जो था।

आज अचानक मैंने इसे नापा
अपनी कुहनी से लेकर मँझली उँगली के पोर तक
पूरे चार बार नापा
फिर भी चार अंगुल बाक़ी ही रह गया
मेरा समूचा तन क्रोध से काँप-काँप उठा
मैं दौड़कर रसोई से साग काटने का
चाक़ू उठा लाई हूँ
और इस बढ़े हुए चार अंगुल सिरे को
छील रही हूँ, छील रही हूँ···

भले ही पड़ोसिनें मेरी हँसी उड़ायें
भले ही मेरी हथेली और अँगुलियाँ छिलकर
लहू-लहू हो जायँ
लेकिन मैं इस चार अंगुल हिस्से को
काट कर ही दम लूँगी
भला मुझे कैसे सहन हो
कि यह नमकहराम नीम
मेरे स्वामी से भी चार अंगुल
ऊँचा हो जाये
भला, मैं इसे कैसे सह सकती हूँ !!

पतंग के प्रति

आखा तीज के दिन
जब मोहल्ले के तमाम बच्चे
अपनी-अपनी छतों पर चढ़ जाते हैं
और धुले-धुले साफ़-सुथरे आस्मान की गोद
रंग-बिरंगी पतंगों से भर जाती है

तो
अपने आँगन में
पीढ़े पर बैठी
घुटनों पर थाली रखे
बाजरे से कंकर बीनती-बीनती रुककर मैं
उस परदेशी पिया की याद में खो जाती हूँ
जो बरसों से घर नहीं आया

अचानक मन में हूक उठती है
कि काश मैं पतंग ही होती !
तो लम्बी डोर के सहारे

ऊँची ही ऊँची उड़ती जाती
इतनी ऊँची कि शायद
हज़ारों मील दूर अपने पिय की
एक झलक पा जाती !

और तब मैं गोते खाती हुई
झूमती हुई झकोले खाती हुई
बालू के ऊँचे-ऊँचे टीबों को लाँघती
पहुँच जाती सुदूर उस देश में
जहाँ मेरा पिय गया है
चाकरी करने !
काश, मैं पतंग ही होती !!

काले कौए के प्रति

यह कौआ तन का ही नहीं,
मन का भी काला है !

कटोरे में छाछ और बाजरे की रोटी ले
ज्यों ही मैं खाने बैठती हूँ
छत के कंगूरे पर आकर यह निगोड़ा
काँव-काँव की रट लगा देता है
बावली मैं ! कि
झट छत पर दौड़ी जाती हूँ
दाहिने हाथ से घूँघट ऊँचा उठा
सुदूर टीबों की ओर बेकली से ताकती हूँ
शायद 'वे' आते हों
दूर ऊँट के ताँगे पर धुँधले से दिखाई देते
शायद 'वही' हों

ताँगे के पास आने पर जब भ्रम टूट जाता है
तो मैं झुंझलाकर कौए को कोसती

नीचे उतर आती हूँ

और यह देखकर जी मेरा
जल-भुन कर राख हो जाता है
कि वही निगोड़ा
मेरी छाछ और रोटी को
फुदक-फुदक खाता है !

सच यह कौआ
तन का ही नहीं
मन का भी काला है !

कविताएँ

राजस्थानी जाड़ा : एक सुबह

बन्द रह रात भर रेफ्रीजरेटर में
ठण्ड में सिकुड़ अब उकड़ूँ बैठे-से
पीले-पीले···पीलिया के रोगी-ज्यों
दूर तक केवल टीबे-ही-टीबे
बालू के टीबे ।

सुदूर एक टीबे पर
घुटे हुए सर की खड़ी हुई चोटी-सा
नीम का पत्रहीन एकाकी दरख़्त
ठहरा-सा जिसके पीछे
लकवे का मारा वह निस्पन्द, निस्तेज
सूरज का गोला !

बन्द कमरे की गरमायी फ़िज़ा में
गठरी-सा गुडमुड मैं
दुबका रजाई में सुन रहा

खिड़की की सँकरी दरारों से आती
नल पर झगड़ती औरतों की चखचख !

चबूतरे की पीले पराग-सी धूप में
ठण्ड से ठिठुरते
रक्तहीन, नीले, नन्हें हाथों में
कुत्ते के रिरियाते पिल्लों को थामे
सटाये छाती से
न्यूमोनिया के रोगी-से थरथर काँपते
खड़े हैं मोहल्ले के कच्चे-बच्चे !

सीली लड़कियों को फूँकती घरवाली
रसोई के कड़ुए धुएँ से खीझकर
आँखों के पानी को पल्ले से पोंछती
नीम-सी कड़वी वाणी में चीख पड़ी

"ए जी, उट्ठो भी
ऊपर से साढ़े आठ बजा
अब उट्ठो भी !"

रात ढल आयी

नागौरी बैलों ने एक फूत्कार छोड़ी
मांसल पुट्ठे फड़फड़ाये
आठ पैर उठे-गिरे, उठे-गिरे, उठे-गिरे
मूक खड़ा रहा मैं ।

घंटियों की विषादभरी टुनटुन
पहियों की चूँ-चाहट
गीत की मायूस लहरदार तान
और
पीछे के झरोखे से झाँकता प्यारा मुखड़ा भी
आह, वह मुखड़ा भी !
ऊँचे-नीचे टीबोंकी ओटमें खो गया ।

नीम के पेड़ों की ऊँची फुनगियों पर
स्वर्ण से दमकते टीबों पर
अब तक मचलतीं

पीताभ किरणें भी पीछे-पीछे भाग गईं
सुदूर क्षितिज को ढँके
बालू के टीबों की कतार के पीछे
सूरज का बड़ा-सा गोला भी फिसल गया ।

साँझ उतर आयी
हौले-हौले
मिट्टी और फूस की झोपड़ियों से छन-छनकर
लहराता, बलखाता, धुआँ उठने लगा
दिये टिमटिमाये

अब तक चमकते-दमकते टीबों की
झूम-झूम गाते नीम के पेड़ों की
आकृतियाँ धुँधली हो गईं
लो, बकरियों का रेवड़ भी घर को लौट चला !

रात ढल आयी
बालू की छाती पर उभरे
नागौरी बैलों के खुरों के दाग़
पहियों की लकीरें भी
(आख़िरी निशानी उसकी !)
गहराती रात के काले दामन में छिप गयी ।

और तब
जड़ देह हिली-डुली
एक सर्द आह
जीवन में पहली बार आज
भीतर कुछ पिघला-सा
उमड़ा-सा
हूक उठी
धुँधल-सा छाया
और आँखें डबडबा आईं ।

सुना था बहुत बार
आज महसूस हुआ
रोने से जी कुछ हल्का हो जाता है !

बहूजी और 'लाज' की फिलासफ़ी

बहू जी बैठी हैं पीढ़े पर
टाँगें पसार
सिर से खिसक
साड़ी का पल्ला ज़मीन पर लोट रहा
गोद का बच्चा
दूध को पकड़ दोनों हाथों से चूस रहा
ऐसी वे बहूजी बैठी हैं पीढ़े पर !

आँगन में
लाल चौखाने का गमछा लपेटे
बर्तनों को हौले हौले राख से रगड़ता
कोयले-सा काला 'वह'
उकडूँ बैठा है ।

ऐसे उस काले भुजंग से
ऐसी वे बहू जी
बतियाती बैठी हैं पीढ़े पर

तभी हठात्
रिरियाया बड़ा बच्चा
झुँझलातीं, खिसियातीं उठीं वे
पहले को पीढ़े पर पटक
दूसरा खटोले पर थपक
फिर आ बैठी वे धम्म से पीढ़े पर
हँस हँस कर बतियातीं···

आये कुँवर-साब
खँखारते पोली से
आते ही पूछा 'माँ कहाँ ?'
लम्बा घूँघट निकाल, सिमट गयीं बहू जी,
ढँक गये अंग सारे साड़ी में
बोलतीं कैसे भर्तार से
लाजवंती वे
ढँकी कलाई तनिक निकाल बाहर
इंगित किया कमरे की ओर !

बेतुके इस प्रहसन को देख
बर्तनों को हौले हौले रगड़ता
काला भुजंग वह
मुसकुराया व्यंग्य से मूँछों में !

पाँच बजने से पाँच मिनट पहले

भूल जाओ
कभी तुम सुन्दर थी !

इन फटे पपड़ाये अधरों पर कभी रस—
छलक-छलक पड़ता था
जुल्फ़ों की काली घटाओं पर मन-मयूर—
थिरक-थिरक उठता था
कभी इन नयनों की श्याम गहराई में—
डूबा-उतराया था
उभरे वक्षों पर धड़कनों की थपकियाँ दे—
तुमने सुलाया था
वह सब भूल जाओ !
मेरे सरस गीतों की कभी तुम प्रेरणा थीं
अब मत याद करो !
बीता, सो भूल जाओ
अब मत याद करो !

अब हो तुम :
पतझर की धरा-सी उजाड़
साँझ-सी वीरान
बासी ककड़ी-सी अलसायी
अब तुम ढल चुकीं
अब तुम चार-चार बच्चों की माँ हो
अब तुम······
लो, सुनो—
रसोई में खदबदाती दाल तुम्हें बुला रही
आँगन में चिंचियाती मुन्नी पुकार रही
जाओ भी
कुर्सी के पीछे से ऊपर लदो ना यों
जी मिचलाता है
गंध आती है—
आटे
पसीने की
जाओ भी!

तुम चाहे ढल चुकीं
स्थितियाँ बदल चुकीं
पर मेरे अरमान अब भी जवान हैं
अब मुझे कल्पना में डूब-डूब जाने दो

अब मुझे गीतों में एक दर्द लाने दो
अब मुझे······

ओह ! फिर वही
कहा तो, सटो ना
तुम्हारे 'वो' आते होंगे
अब तो टलो !

मूड का बनना और बिगड़ना

• मूड का बनना

ईडन गार्डन में टहल रहे
'दर्द' जी
गुनगुनाते कविता की पंक्तियाँ !
पत्तियों
पुष्पों
घास की नोक पर
बड़े-बड़े उज्ज्वल मोती के दानों से
चमकते तुहिन-कण !

भाव-विह्वल वे, रोमांचित, रो-से पड़े—
"आह !
रात-रानी के कजरारे नयनों से
ढुलके ये अश्रुकण
कैसे बटोर लूँ ?

काँटों-सी किरणें बेंध देंगी इनके सुकोमल शरीर को
कैसे रोक दूँ ?
कैसे रोक दूँ ?

कर दूँ अमर इन्हें
कविता की पंक्तियों में
शैली के स्काईलार्क-सा ।"

बिखरते भावों को सयत्न सँवारते
लम्बे-लम्बे डग भर
पलट चले व्यस्त से 'दर्द' जी
घर की ओर !

● मूड का बिगड़ना

बगान के गेट पर
तलैया के तल की चिकनी मिट्टी की सूखी-सी प्रतिमा-सी
चादर की सलवटों-से गालों पर
रुक-रुक सरकती अश्रु-धार
गोदी में मरियल-सा
कुत्ते के पिल्ले-सा रिरियाता बच्चा
मकड़ी के जालों से
उलझे बालों में
भिनभिनाती मक्खियाँ—
सब कुछ असुन्दर !
बेडौल !!
घिनौना !!!

बेहद झुँझलाये, बड़बड़ाये
'दर्द' जी—
"कम्बख्त ने सारा मूड ही बिगाड़ दिया !"
लपक कर चढ़ गये
घरघराती ट्राम में
बेदर्द 'दर्द' जी ।

खिड़की से मुँह निकाल
पीछे को भागती धरती पर झटके से
थूक दिया 'दर्द' जी ने 'थू'—
"कम्बख्त ने सारा मूड ही बिगाड़ दिया !"

ग़म हैं ज़मा

रेशम-से चिकने
बरसात की घटाओं-से
काले केशों को
चाँदनी-से
मुखड़े पर छितराये
रस से छलकते
अधरों पर
मृदु फड़कन
आमंत्रण देती-स
अपने में सिमटी
छुईमुई-सी
    जब तुम मेरी आँखों में बैठी रहती हो
    जब तुम मेरी साँसों में छायी रहती हो
    मैं डूब नहीं पाता
    तब भी—
    मैं भूल नहीं पाता
    तब भी !

हाँ तब भी :
जीवन के कष्ट
अभाव
बॉस की चिर खिचखिच
भारी-भरकम लेजरों
फाइलों
बदरंग काग़ज़ों के ऊँचे अंबारों में
उमड़ते मनहूस टिड्डी दलों-से
किलबिलाते कीड़ों-से
टूटी टाँगों की चींटियों-से
रेंगते—
अंकों
अक्षरों को !

उनकी बेमज़ा याद
किसी भारी शिला-सी
हरदम
हर पल
दिमाग़ पर पड़ी ही रहती है
रह-रह कर
दिल की गहराइयों को छू-छू जाती है
मन न जाने कैसा-कैसा हो उठता है !

और तब खोया-सा
कोने के मकड़ी के जाले को ताकता
अनजाने
हौले से
गुनगुना उठता हूँ :
'और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा !'···

हाथीदाँत की मीनार में

दिन-भर काम किया, शाम को
थक कर
ऊब कर
कार में बैठ घर लौट आये ।
निढाल-से पसर गये सोफ़े पर
नेत्र बंद
सोचते—

"ऑफिस का रोब-दाब
कोलाहल
कितना निरर्थक
कितना ऊब भरा !
दुलहन-सा सजा हुआ ड्राइंग-रूम
मौत-सा जड़ शान्त ।
सब-कुछ उखड़ा-उखड़ा
जीवन है कितना बेमानी, उफ् !
कितना बेमानी ! कितना बेमानी !"

करवट ली, उठ बैठे, हाथ बढ़ा, देखा—
कविताएँ !

कुछ पढ़ीं, रस आया, और पढ़ीं
खिला मन, उड़ गयी थकावट कपूर-सी।
नवस्फूर्ति, नवजीवन, नवोल्लास !
पुलकाकुल बोल उठे "वाह,
वाक़ई, कविताएँ अच्छी हैं !"

तभी
याद आये कवि जी !
ताड़-से लम्बे
बेंत-से दुबले
बिखरे बाल, पिचके गाल, क्लान्त
भटकते होंगे कहीं चौरंगी के फुटपाथोंपर
या कि काफी-हाउस में
सतृष्ण नयनों से कपों को ताकते
खाली पाकेट
दोस्तों की प्रतीक्षा में !

"दबा कुचला, निरीह कवि !
ओह, कितना निरीह कवि !"

झटके-से उठते विचारों को पीछे ठेल
बोल उठे साहब—
"उँह, हमें क्या कवि से ?
हाँ वाक़ई, कविताएँ अच्छी हैं !"

लहरें, क़िला और ताज

जिन नीली लहरोंपर
दूधिया चाँदनीमें
बजरे बिछले होंगे,
अंगूरीसे मदमाते नयनोंके लाल डोरे शाहों के
हसीनोंके नृत्य-शिथिल चरण थिरके होंगे
सुधा-सी सुमधुर हँसी पी
मदभरी आँख-मिचौनी देख
जो लहरें इतराती-इठलाती बही होंगी
वही, हाँ वही
अब
तटकी चट्टानों पर पछाड़ खा
करती हैं चीत्कार !

जिसकी हर ईंट-शिला
बेगुनाहों की आहों
अत्याचारों के क्रूर अट्टहासों से

गूँजी थी
लहू-सा लाल-लाल
वह क़िला;
रजपूती वीरों की सीधी-तनी मूँछों-सा
अकड़ा खड़ा रहता था
वही, हाँ वही
अब
बेवा-की सूनी माँग-सा
उजाड़ पड़ा उस पार !

नीली-नीली लहरें
नीला है आसमान
सुदूर राजहंस-सा
दोनों के बीच में है खड़ा
मुमताज का मजार;
जो उसकी आँखों का तारा था
आख़िरी दिनों का सहारा था
वही, हाँ वही
अब
एकाकी मूक खड़ा रोता है
शाहजहाँ का दुलार !

बक़लम एक छिपकली

उर्मिला और गोपा के प्रति
मेरा मन बेहद जलता था
वे कविता का श्रृंगार बनीं,
काली कोयल
भद्दी मछली
थीं वाणी का उपहार बनीं,
एक मैं ही हूँ
जो थी उपेक्षिता अब तक हिन्दी कवियों की;
एक मैं ही हूँ !

मै क़ायल हूँ
ऐ प्रयोगवाद के कविगणों
मैं क़ायल हूँ तुम लोगों की
मेरी गरिमा को आख़िर तुमने पहिचाना
मैं क़ायल हूँ !

फूलों ने अपना रंग बदला
दुनिया बदली
बन्दर-सी लम्बी पूँछ त्याग
मानव बदला
सब गिरगिट से रंग बदलते रहते हैं
एक मैं ही हूँ
[या चाँद-सितारे-सूरज हैं !]
जो आज तलक
अपना शाश्वत स्वरूप क़ायम रखती आयी;
ऐ प्रतिभा के अवतार
'नये कवि'
केवल तुमने इसक ानना
मैं क़ायल ,
तेरी इस तीखी सूझ-बूझ की
कविता के शृंगार
नये कवि
क़ायल हूँ !
हाँ, क़ायल हूँ !!

तीन आयामों का एक चित्र

चित्र महान !
भावों की यह सूक्ष्मदर्शिता
रेखाएँ सप्राण !

एक पार्श्व में :
किलकारी का तरल स्रोत
मधु ओत-प्रोत
यह शिशु अम्लान !
चित्र महान !

और दूसरा :
यौवन के मद से मदमाता
झुलसाता
मध्यग्रीष्म के तीव्र ताप-सा
बाँका जवान !
चित्र महान !

किन्तु तीसरा :
पतझड़ के पीले पत्ते-सा पीतवर्ण
है जराजीर्ण
जीवन-पथ का यह थका पथिक
पाथेय हीन
वृद्ध म्लान !
चित्र महान !

लीकें, प्लेटफ़ार्म और फर्श

लहरातीं गातीं टहनियाँ
चहचहाते बसेरे
महकते फूलों को साथ ले—
आँधी तो चली गयी
धरा पर असहाय ठूँठ-सा मैं पड़ा हूँ !

घंटियों की टुनटुन
पहियों की चूँ-चाहट
गीत की लहरदार तान को साथ ले—
गाड़ी तो चली गयी
निर्जीव, मूक लीक-सा मैं पड़ा हूँ !

हलचल, कोलाहल, जीवन समेट कर
रेल तो चली गयी
दो-चार धुँधुआती, टिमटिमाती लालटेनें
सीने पर उठाये—
नीरव, उजाड़ प्लेटफ़ार्म-सा मैं पड़ा हूँ !

दीवाने चले गये
साज सब मौन
अलस, शिथिल कदमों से गायिका भी
वह चली
और अब
सीने में बीती यादों का दर्द ले—
महफिल के सूने फर्श-सा मैं पड़ा हूँ !

प्राण तो चले गये
निष्पन्द, जड़ देह-सा मैं पड़ा हूँ ।

जो कभी आबाद था

पत्थर के ढोंके रहे शेष,
भग्नावशेष !

टेढ़े-मेढ़े बदरंग ढोंके
धूप और वर्षा के तीव्र प्रहारों से
बेढंगे होके,
नीचे जिनके
किलबिल करते
हैं खोज रहे भोजन अपना बेदम होते
ये क्षुद्र कीट···जो हैं अनेक,
जीवन के केवल यही चिह्न हैं रहे शेष !
भग्नावशेष !

सूखी सरिता के ऊपर
कुछ दूर अधर में
तीखे तीरों से सूरज के बेहाल

वह गिरी···गिरी···अब गिरी
चील एक;

सुदूर क्षितिज की छाती को चीरे
है रेंग रही धीरे-धीरे
रेल एक;

हलचल के केवल यही चिह्न हैं रहे शेष !
भग्नावशेष !